ISSN 2349-1906

# साहित्य यात्रा

वर्ष 2 अंक 6 जुलाई-सितम्बर 2015

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

## डॉ. रामदरश मिश्र पर विशेष

संपादक

डॉ. कलानाथ मिश्र

साहित्य यात्रा
वर्ष 2 अंक 6 जुलाई-सितम्बर 2015
डॉ. कलानाथ मिश्र

डॉ. रामदरश मिश्र एवं
उनकी पत्नी सरस्वती मिश्र
के साथ संपादक

डॉ. कलानाथ मिश्र के आवास
पर आयोजित भोज में उपस्थित
डॉ. रामदरश मिश्र और
डॉ. हरिपाल त्यागी
के साथ पं. गणनाथ मिश्र,
राजकुमारी मिश्र, डॉ. शिवनारायण
एवं रामशोभित प्रसाद सिंह

डॉ. रामदरश मिश्र के
आवास पर उनका सम्मान
करते साहित्य यात्रा के
संपादक कलानाथ मिश्र
और नई धारा के संपादक
डॉ. शिवनारायण

# साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

संपादक
डॉ॰ कलानाथ मिश्र

यहाँ से काटिए

**साहित्य यात्रा**
साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

**संपादक**
**साहित्य यात्रा**

प्रिय महोदय,
'साहित्य यात्रा' के

| | | |
|---|---|---|
| एक वर्ष (4अंक) | : | ₹ 300 /- (डाक खर्च सहित) |
| तीन वर्ष (12 अंक) | : | ₹ 750 /- (डाक खर्च सहित) |
| संस्थागत मूल्य (3 वर्ष) | : | ₹ 1100 /- |
| आजीवन सदस्यता | : | ₹ 11000 /- |
| विदेश के लिए (3 वर्ष) | : | $ 60 डॉलर |

(*पटना के बाहर का चेक पर कृपया बैंक कमीशन के 40/- रुपये उसमें अतिरिक्त जोड़ दें।*)

उक्त दर के अनुरूप मैं चेक / ड्राफ्ट संलग्न कर रहा हूँ। कृपया मुझे ग्राहक बना कर मेरी प्रति निम्न पते पर भिजवाएँ।

नाम : .....
पता : .....
.....
.....
.....
फोन : .....

चेक/ड्राफ्ट संपादक / प्रसार व्यवस्थापक, **साहित्य यात्रा,** पटना के नाम पर ही बनाएँ और निम्नलिखित पते हमें भेजने की कृपा करें :-

संपादक
साहित्य यात्रा
ई-112, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001 (बिहार)
फोन : 9835063713
ई-मेल : shahityayatra@gmail.com
वेब साई : http:/www.sahityayatra.com

अंक आप साहित्य यात्रा के पते पर मनीऑर्डर भेज कर भी मंगा सकते हैं।

# साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

वर्ष-2 अंक-6 जुलाई-सितम्बर 2015

**परामर्शी**

डॉ॰ सूर्य प्रसाद दीक्षित

डॉ॰ श्रीरंजन सूरिदेव

डॉ॰ रामशोभित प्रसाद सिंह

डॉ॰ संजीव मिश्र

**संपादक**

**डॉ॰ कलानाथ मिश्र**

**सम्पादकीय सलाहकार**

श्री आशीष कंधवे

**सहायक संपादक**

डॉ॰ रवीन्द्र पाठक

**व्यवस्थापकीय सहयोग**

श्री अमित मिश्र

साहित्य यात्रा में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार एवं दृष्टिकोण संबंधित लेखकों के हैं जिनसे संपादक, प्रकाशक, मुद्रक एवं पत्रिका से जुड़े किसी भी व्यक्ति का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। सभी विवादों का निपटारा पटना क्षेत्र के अन्तर्गत सीमित है। पत्रिका में संपादन से जुड़े सभी पद गैर-व्यावसायिक एवं अवैतनिक है।

# साहित्य यात्रा

साहित्यिक-सांस्कृतिक यात्रा की साक्षी

RNI No. : BIHHINO5272
ISSN 2349-1906

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशित सामग्री के पुनः उपयोग के लिए लेखक,
अनुवादक अथवा **साहित्य यात्रा** की स्वीकृति अनिवार्य है।

संपादकीय कार्यालय
'अभ्युदय'
ई-112, श्रीकृष्णपुरी
पटना-800001 (बिहार)
मोबाइल : 09835063713
ई-मेल : sahityayatra@gmail.com

मूल्य : ₹ 45

| | | |
|---|---|---|
| शुल्क दर : | एक वर्ष (4 अंक) | ₹ 300 |
| | तीन वर्ष (12 अंक) (डाक खर्च सहित) | ₹ 750 |
| | संस्थागत मूल्य (3 वर्ष) | ₹ 1100 |
| | आजीवन सदस्यता | ₹ 11,000 |
| | विदेश के लिए | 60 डॉलर (3 वर्ष) |

शुल्क **'साहित्य यात्रा'** के नाम पर भेजें।

'साहित्य यात्रा' त्रैमासिक डॉ॰ कलानाथ मिश्र के स्वामित्व में और उनके द्वारा 'अभ्युदय' ई-112, श्रीकृष्णपुरी, पटना-800001, बिहार से प्रकाशित तथा ज्ञान गंगा क्रियेशन्स, पटना से मुद्रित। स्वामी/संपादक/प्रकाशक/मुद्रक : डॉ॰ कलानाथ मिश्र।

# अनुक्रम


**संपादकीय** 07
गाँव को बसाए रखने वाले साहित्यकार

---

**साक्षात्कार** 10
डा. रामदरश मिश्र के साथ डॉ. कलानाथ मिश्र की बात चीत

---

आलेख 16
**विष्णु प्रभाकर**
जितना मैं जान सका

---

आलेख 23
**नरेश शांडिल्य**
चमत्कृत नहीं स्पंदित करती हैं : डॉ. रामदरश मिश्र की गजलें

---

आलेख 27
**डॉ. रामदेव शुक्ल**
डॉ. रामदरश मिश्र की समीक्षा दृष्टि : संदर्भ कविता

---

आलेख 32
**डॉ. सुनिल विक्रम सिंह**
रामदरश मिश्र का संस्मरण-साहित्य

---

आलेख 35
**डॉ. सविता मिश्र**
रामदरश मिश्र की काव्य यात्रा

---

आलेख 45
**डॉ. अमिता**
नैराश्य के बीच जीवन के प्रति आस्था का भाव जगाती कहानियाँ

---

संस्मरण 55
**विजय निकोर**
'निशान' के बहाने

---

संस्मरण 58
**डॉ. अंजलि देवी**
जीवन जगत के विविध छवियों की चित्रात्मक अभिव्यक्ति

साक्षात्कार 66
**जसवीर त्यागी**
हर सफल व्यक्ति के पीछे एक स्त्री होती है।

आलेख 69
**डॉ. विनिता राय**
रामदरश मिश्र के उपन्यासों में मूल्य चेतना

यात्रा-संस्मरण 78
**अलका सिन्हा**
कालीदास सच-सच बतलाना

आलेख 83
**हरिशंकर राढ़ी**
अनुभूतियों एवं संवेदनाओं का रोजनामचा

आलेख 91
**डॉ. चन्द्रकला त्रिपाठी**
सहचर है समय : यहाँ से वहाँ तक

समीक्षा 96
**डॉ. व्यासमणि त्रिपाठी**
आधुनिकता के चौराहे पर स्मृतियों की सुगन्ध

आलेख 102
**डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ**
जनधर्मी मूल्य दृष्टि से सम्पन्न उपन्यास

आलेख 112
**सत्यप्रिय पाण्डेय**
जीवन और प्रति का सहज कोलाज़ रचते गीत

# सम्पादकीय

विगत 31 जुलाई को जयन्ती के अवसर पर पूरे देश में प्रेमचंद याद किए गए। स्वाभाविक ही है अमर कथा शिल्पी ने अपनी रचनाओं में जिस पारदर्शिता के साथ भारतीय समाज का सार्थक चित्र अंकित किया है, वह उनके जैसे सजग और समर्थ कलाकार से ही संभव था। उन्होंने समाज को देखने का नवीन दृष्टिकोण दिया। किसानों के सोच और उसके दु:ख दर्द को करीब से देखा और उसका यथार्थ चित्र खींचा। उनकी रचनाओं में इतनी शक्ति इसलिए है क्योंकि उसमें समय का सच है। बेवाक सच्चाई से निर्मित है उनके रचना का आधार और जीवन मूल्यों का ताना-बना। किन्तु कभी-कभी मन में यह विचार तो अवश्य आता है कि प्रेमचंद आज रहते तो क्या वही लिखते? जो उन्होंने लिखा, क्योंकि समाज बदला है, तद्युगीन सांस्कृतिक मूल्यों में परिवर्तन हुआ है। ग्रामीण जीवन का सच भी अब वह नहीं है। साहित्य में यदि समाज चित्रित होता है तो अपने समय के सच के साथ। इस तरह साहित्य अपने युग के समाज का दर्पण है। समय के परिवर्तन के साथ समाज परिवर्तित होता है। सामाजिक मूल्य बदलते हैं। किन्तु इसमें समय लगता है। इसका पदचाप सहज की सुनाई नहीं देता। परिवर्तन अति सूक्ष्म रूप से शनैः शनैः निरंतर चलता रहता है। प्रेमचंद के उपन्यासों में समाज का जो परिवेश चित्रित हैं, वह बदला है। फिर भी सामाजिक चेतना के जिस मूल स्वर को उन्होंने उजागर किया वह अपनी जगह कायम है और इसीलिए उसकी प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है।

साहित्य में गाँव का दखल कम अवश्य हुआ है किन्तु गाँव और गँवई संस्कृति में आज भी अपार रस है। अपने जीवन और साहित्य में गाँव को बसाए रखने वाले ऐसे ही साहित्यकार हैं डॉ. राम दरश मिश्र। **'साहित्य यात्रा'** का यह अंक उन्हीं पर केन्द्रित है। 15 अगस्त को देश आजाद हुआ और 15 अगस्त को ही डॉ. मिश्र का जन्म दिवस भी है। यह एक सुसंयोग है। शायद यही कारण है कि मिश्र जी की लेखिनी इतनी स्वतंत्र है। न कोई वाद,

न कोई खेमा बस केवल लिखना और लिखते रहना। विपुल साहित्य की रचना की है उन्होंने। मूल रूप से कवि हृदय किन्तु साहित्य के सभी विधाओं में महत्वपूर्ण लेखन किया है। कई कविता संग्रह, अनेक उपन्यास, कई कहानी संग्रह, कई समीक्षा ग्रंथ, निबंध संग्रह, यात्रा वृतांत, संस्मरण, आत्मकथा, डायरी सभी विधाओं में समान अधिकार के साथ अपनी सर्जनात्मकता को आकार दिया है उन्होंने। उनकी रचनाओं में भाव और भाषा का सहज प्रवाह, और सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति आस्था का भाव मिलता है।

रामदरश जी की रचनाओं में गाँव तो मिलता है किन्तु उन्हें भी उस परिवेश और मूल्य के टूटन का मलाल है। अपने एक निबंध में उन्होंने लिखा है।

''अब जब कभी गाँव जाता हूँ तो प्रकृति उसी पुरानी सहचरी की तरह लगती है। अक्षय गंधा, अक्ष्य रूपवती, अक्षय रसमयी, लेकिन गाँव के लोग वैसे नहीं लगते। उनके संबंध, उनके मूल्य टूट गए हैं। फक्कड़पन बनियागीरी में बदल गया है। त्यौहार-पर्वों का उल्लास, पैसे और राजनीति की हलचल में खो गया है, अब उसमें जीवन देने की ताकत नहीं रह गई है।'' इस मलाल के बावजूद भी रामदरश जी गाँव से अलग नहीं हो पाते, उनकी रचनाओं में गाँव रचा-बसा है। मिश्र जी के व्यक्तित्व में भी ग्रामीण जीवन की सरलता हम देख पाते हैं। व्यक्तित्व का प्रभाव तो सृजन पर पड़ता ही है। मिश्र जी से मेरा आत्मीय संबंध रहा हैं आते-जाते दिन में उन्होंने अपने पटना यात्रा की चर्चा के क्रम में अत्यंत आत्मियता के साथ मेरा, डॉ. शिवनारायण जी का और मेरे घर पर बिताए उन लम्हों का भी उल्लेख किया है। जब कभी दिल्ली में उनके आवास पर हम लोग पहुँच जाते हैं तो उनका मुखमंडल स्नेह मिश्रित आनन्द से खिल उठता है। पूरा महौल साहित्यमय हो उठता है। एक बार हम लोग उनके दिल्ली आवास पर गए थे। स्मरण है कि वहीं भाई राधेश्याम तिवारी जी का अभिनन्दन भी हुआ था। सृजन के प्रति मिश्र जी की प्रतिबद्धता प्रेरणा योग्य है। सहजता, सरलता एवं दृढ़ता तो उनके व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य है। व्यक्तित्व की दृढ़ता ने ही उन्हें यहाँ तक पहुँचाया है। इस संदर्भ में मुझे उनकी ये पंक्तियाँ याद आती हैं -

''आँधियों में भी दीवा का दिप जलना जिन्दगी है,
पत्थरों को तोड़ निर्झर का निकलना जिन्दगी है,
चाहता हूँ मैं किसी छाया तले नि:श्वास ले लूँ,
किन्तु कोई कह रहा, दिन-रात चलना जिन्दगी है।''

अहर्निश अपनी रचनाशीलता में तल्लीन इस वयोवृद्ध रचनाकार ने हिन्दी साहित्य को बहुत कुछ दिया है। उनके अवदानों को रेखांकीत करने के उद्देश्य से ही हमने साहित्य-यात्रा

का यह अंक उनपर केन्द्रित किया है। ताकी आज के साहित्यकारों और पाठकों को मिश्र जी की सृजन-धर्मिता से लाभ मिल सके। इस अंक में हमने रामदरश मिश्र पर लिखे कालजयी रचनाकार विष्णु प्रभाकर जी का पूर्व लिखित एक आलेख प्रकाशित किया है। मिश्र जी के व्यक्तित्व का अत्यंत ही सजीव चित्र विष्णु प्रभाकर जी ने खींचा है। डॉ. रामदरश मिश्र जी के रचना के विभिन्न आयाम पर भी हमने पृथक लेख संकलित करने की चेष्टा की है। इस क्रम में हमने डॉ. नरेश सांडिल्य, सुनिल विक्रम सिंह, डॉ. रामदेव शुक्ल, हरिशंकर राढ़ी, डॉ. चन्द्रकला त्रिपाठी, जसवीर त्यागी, डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ, व्यासमणि त्रिपाठी, विजय निकोर, डॉ. सविता मिश्र, डॉ. अमिता, डॉ. विनीता राय, डॉ. अंजलि देवी, डॉ. सत्यप्रिय पाण्डेय आदि विशिष्ट रचनाकारों के आलेख प्रकाशित किए हैं। हमारा प्रयास रहा है कि मिश्र जी के व्यक्तित्व और कृतित्व की एक झांकी समग्रता में पाठकों के सामने प्रस्तुत किया जाए। डॉ. रामदरश मिश्र जी का व्यक्तित्व जितना व्यापक है उनका कृतत्व भी उतना विस्तृत है। उसे एक सीमित अंक में समेट पाना सम्भव नहीं है, फिर भी गागर में सागर भरने का यह लघु प्रयास है। आशा है पाठकों के द्वारा यह अंक समादृत होगा।

अब एक दु:खद समाचार विगत् दिनों संस्कृत और हिन्दी के आचार्य और काव्यशास्त्र के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान, पटना विश्वविद्यालय के पूर्व आचार्य डॉ. शोभाकान्त मिश्र जी का देहावसान हो गया। वे मेरे गुरू थे और सतत् उनका परामर्श हमें मिलता रहता था। हमने उनके साथ उन्हीं के विशेष संपादकत्व में साहित्य-यात्रा के काव्य शास्त्र विशेषांक निकालने की योजना बनायी थी किन्तु वह अधर में हीं रह गया। भविष्य में हम इस योजना पर काम करने का प्रयास करेंगे। डॉ. शोभाकान्त मिश्र के देहावसान से पूरे हिन्दी जगत् और साहित्य-यात्रा परिवार को गहरा आघात पहुँचा है। वे आत्मश्लाघा से दूर एकांत साधक थे। साहित्य-यात्रा परिवार उनके प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि निवेदित करता है। एसे ही मनीषी प्राध्यापकों और सृजनधर्मी रचनाकारों के बल पर साहित्य का भण्डार समृद्ध होता रहा है और सृजनात्मकता के प्रति हमारी आस्था और अधिक बलवती होती रही है। उनकी यश:काय को नमन करते हुए यह अंक आपको सादर समर्पित।

*शुभकामनाओं सहित!*

**आपका**
**डॉ. कलानाथ मिश्र**

# सृजन मेरा शौक नहीं था
# जो विपरीत परिस्थितियों में छूट जाए।

डा. रामदरश मिश्र से साहित्य यात्रा के संपादक की बात चीत

**कलानाथ:** आदरणीय मिश्र जी, आप साहित्य की विभिन्न विधाओं में निरंतर लिखते रहे हैं। एक श्रेष्ठ साहित्यकार अपने विचारों, भावनाओं और अनुभवों की अभिव्यक्ति के लिए ऐसे माध्यम की तलाश करता है जिसमें वह सर्वाधिक सहजता एवं कलात्मकता के साथ अपने को व्यंजित कर सके। लेकिन हम जानना चाहेंगे कि आप का मन सबसे अधिक किस विधा में रमा है।

**रामदरश मिश्र :** मैंने सन् 1937 से अपनी कविता-यात्र प्रारम्भ की थी और आज तक उसके साथ चल रहा हूँ। तो स्पष्ट है कि कविता मेरी मुख्य विधा रही है। किन्तु सहज क्रम से मैं कहानी और उपान्यास-रचना से जुड़ा और ये दोंनो विधायें भी मुझे कविता की तरह प्रिय हो गईं। मेरी पहचान इनसे भी जुड़ी हुई है।

**कलानाथ:** आप लगभग पिछले सात-आठ दशकों से साहित्य साधाना में रमे हैं। इस दीर्घ अवधि के साहित्यिक सफर के बाद आप कैसा अनुभव करते हैं?

**रामदरश मिश्र :** दीर्घ रचना-यात्र ने मुझे सुख दिया, पहचान दी, जीवन की सार्थकता प्रदान की। तो लगता है ये रचनाएं मेरे जीवन की निधियाँ हैं, जो औरों के सुख-दुःख से जुड़ी हैं। तो मैं आज इनके नाते इस वय में भी बहुत भरा-पूरा अनुभव कर रहा हूँ।

**कलानाथ:** डा. साहब हम यह जानते हैं कि छात्र जीवन से ही आपकी सृजनात्मकता मुखर रही है। आपके पाठकों और प्रसंशकों के मन में स्वाभाविक जिज्ञासा रहती है कि शुरुआती दिनों में साहित्य की ओर आपका रुझान कैसे हुआ? उनदिनों साहित्य के सम्बन्ध में आपकी क्या परिकल्पनाएँ थी।

**रामदरश मिश्र :** जब मैं प्राइमरी स्कूल में पढ़ता था तभी पाठ्य-पुस्तकों में प्रकाशित कविताओं को पढ़-पढ़ कर और लोकगीतों को सुन-सुन कर मेरी इच्छा होती थी - काश, मैं भी ऐसा लिख

पाता। जब दर्जा छः में गया तो इस इच्छा ने प्रथम बार मूर्त रूप ले लिया। उस समय साहित्यिक परिवेश के बारे में कुछ पता नहीं था। मैं तो सहज भाव से कविता से जुड़ा था और सहज भाव से लिखे जा रहा था। हाँ, परिकल्पना यही थी कि मैं एक अच्छा कवि बन जाऊँ।

**कलानाथः** इसी से जुड़ा एक और प्रश्न मैं करना चाहता हूँ कि जब आपने लिखना आरंभ किया उस समय के साहित्यिक परिवेश और आज जो साहित्यिक माहौल बन गया है उसमें क्या अंतर लगता है आपको ?

**रामदरश मिश्र :** मैंने कहा न कि मैं उस समय के साहित्यिक परिवेश के बारे में कुछ विशेष जानता नहीं था। हाँ, जब मैं 1945 में काशी गया तब समकालीन साहित्यकारों के सम्पर्क में आकर परिवेश से अवगत होता गया। उस समय का साहित्यिक माहौल अधिक प्रीतिकर था। उसमें अधिक खुलापन था। एक दूसरे के साथ चलने और उनकी अच्छी रचनाओं की प्रशंसा करने का उत्साह था। आज का माहौल अपेक्षाकृत बंद सा दिखाई पड़ता है। अपने गुट से बाहर की अच्छी रचनाओं के प्रति चुप्पी दिखाई पड़ती है। पहले के रचनाकारों में परस्पर मिलने-जुलने का जो भाव था, जो सौहार्द था, वह मंद पड़ गया है।

**कलानाथः** दिल्ली साहित्यिक राजधानी के रूप में भी अवतरित हो गई है। साहित्य में आजकल खेमेबाजी बहुत है। आपको अपनी साहित्यिक पहचान बनाने के लिए किन संघर्षों से गुजरना पड़ा? क्या एक साहित्यकार के रूप में अपनी पहचान बनाने के लिए केवल रचना की उत्कृष्टता काफी है?

**रामदरश मिश्र :** मेरी पहचान किसी शहर की देन नहीं है। वह मेरे लेखन के साथ निरंतर बनती गई। देहाती परिवेश में था तो वहां भी मैंने अपनी एक छोटी सी पहचान बना ली थी। फिर, वाराणसी ने उस पहचान को थोड़ा सघन किया। गुजरात में गया तो मैं अनेक पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगा था। और वहाँ के जीवनानुभव ने मेरी पहचान में अपना रंग भरा। दिल्ली आया तो अनेक साहित्यकारों, पत्र-पत्रिकाओं के साहचर्य ने उस पहचान को और प्रगाढ़ किया। तो मैं कहीं भी रहा, अपनी सतत रचना-यात्रा से ही पहचान की निर्मिति की। विकास करता रहा। मैं किसी गुट का मुखापेक्षी नहीं हुआ। किसी गुट ने मुझे कुछ नहीं दिया। मेरा सब कुछ स्व-अर्जित है। हाँ, कुछ मुक्त मन आलोचकों और पाठकों ने मुझे काफी कुछ दिया। गुट से जुड़ने वाले कुछ जल्दी काफी कुछ पा लेते हैं, किन्तु, अपना रास्ता बना कर चलने वाले को उजागर होने में कुछ विलम्ब अवश्य हो जाता है।

**कलानाथः** कहा जाता है कि आज कल कविता के पाठक कम होते जा रहे हैं। आपका इस बारे में क्या मानना है?

**रामदरश मिश्र :** कविता के पाठक कम हो रहे हैं। पड़ताल हो तो इस सच्चाई का पता चले। बहरहाल मान लेता हूँ कि कविता के पाठक कम हो रहे हैं तो इसका उत्तरदायी गद्य छन्द वाली कविता को क्यों मान लिया जाए। आज थोक भाव से गीत-ग.जलें और दोहे लिखे जा रहे हैं। ये तो छन्द में हैं। फिर, पाठक कविता से विरक्त क्यों हो रहे हैं। असल बात तो यह है कि इस समय लोंगों में साहित्य के प्रति ही कुछ उदासीनता दिखाई देती है। बहुत पढ़े-लिखे लोंगों के भी घरों में साहित्य

की पत्रिका नहीं दिखाई देती है। छात्रों में भी साहित्य पढ़ने का उत्साह कम हो गया है। वे वही पढ़ते हैं जिससे उनका कैरियर बनता है।

**कलानाथः** मिश्र जी आप गोरखपुर से आते हैं। आपने कुछ भोजपुरी रचनाएं भी की हैं एक जो मुझे पता है उसकी पंक्तियाँ हैं ''घेरि-घेरि उठलि घटा घनघोर और कजरार, सावन आ गइल ! बेबसी के पार ओते, अवरु हम ए पार, सावन आ गइल !'' कुछ लोगों ने भोजपुरी में बहुत ही श्रेष्ठ कोटि की रचनाएँ की हैं। अपनी भोजपुरी रचना प्रक्रिया के बारे में कुछ बताइये।

**रामदरश मिश्र :** भोजपुरी में मैंने तीन-चार ही कविताएँ लिखीं। मुझे और लिखना चाहिए था। मगर, नहीं लिखा। वैसे मुझे और बहुत से काम करने चाहिए जो नहीं कर सका। अब तीन-चार रचनाओं की रचना-प्रक्रिया के बारे में क्या कहा जाये। बस गाँव की प्रकृति और सामाजिक दर्द की सहज ही अभिव्यक्ति हो गई।

**कलानाथः** भोजपुरी में रघुवीर नारायण की ये पंक्तियाँ सहज ही स्मरण हो आता हैं 'सुन्दर सुभूमि भैया भारत के देसवा से....' किन्तु आज भोजपूरी सिनेमा और गीतों में अश्लीलता बहुत आ गई है। क्या इस प्रकार भोजपुरी एक समृद्ध भाषा बन सकेगी?

**रामदरश मिश्र :** भोजपुरी में अनन्त प्रभावशाली लोकगीत हैं। कवियों द्वारा लिखे भी जा रहे हैं। लोक-जीवन के अनन्त स्वर मुखरित हो रहे हैं। किन्तु, भोजपुरी सिनेमा, कथा और गीत दोंनो में फूहड़पन परोस रहा है। यह चिन्ता की बात है।

**कलानाथः** मिश्र जी आपका आरंभिक जीवन बहुत ही संघर्षपूर्ण रहा है। इसके कई चित्र आपकी आत्मकथा 'समय सहचर है' एवं 'फुरसत के दिन' में भी दिखता है। अपने संघर्ष के दिनों का कुछ प्रसंग हमें बताईए ताकि आज के युवाओं को कुछ प्रेरणा मिल सके।

**रामदरश मिश्र :** बचपन का जीवन घोर अभावों में बीता। उस कछार अंचल में घोर असुविधाएं व्याप्त थीं। बहुत आगे बढ़कर कुछ बन जाने की सम्भावना नहीं थी। लेकिन इस माहौल में भी मैं अपने तमाम साथियों के साथ प्रसन्नता की यात्रा कर रहा था। कछार अंचल की प्रकृति और सामाजिक जीवन की छवियों को मैं मन से जी रहा था। किसान जीवन के अनेक कार्य सम्पन्न करता हुआ भी पढ़ाई-लिखाई में मन लगा रहा था। बाढ़ की विभीशिका से भी दो-चार कर रहा था। यानी कि जो विषम परिस्थितियाँ थी उनसे पराजित न होकर हँसता-गाता चल रहा था। पढ़ाई में दर्जा में सबसे आगे था ही, साहित्यिक रूचि और रचनात्मक मन के कारण मैं कुछ विशेष मान लिया गया था। मिडिल स्कूल पास करने के बाद संकट शुरू हुआ कि अब क्या किया जाए। कोई बना-बनाया पथ नहीं था, जिस पर सीधे चलता रहता। इसी ऊहापोह में 'विशेष-योग्यता' की परीक्षा दी, 'विशारद' किया, 'साहित्यरत्न' किया। 'विशारद', 'साहित्यरत्न' करने के लिए बरहज जाता था- सीधा-पिसान लादे हुए 24 मील दूर। सिर पर बोझ लाद कर दस मील, बारह मील, बीस मील, चौबीस मील पैदल चलना हम लोंगो की मजबूरी थी क्योंकि इतनी-इतनी दूर तक न सड़कें थीं, न सवारियाँ। साहित्यरत्न करने के बाद पथ रुक गया। अब क्या किया जाए इसी सोच में उलझा रहा कि किसी ने सुझाव दिया कि अंग्रेजी पढ़े बिना निस्तार नहीं है। तो चल पड़ा अंग्रेजी की राह

पर। एक प्राइवेट स्कूल में अंग्रेजी की पढ़ाई शुरू की। दो साल बाद 10वीं की परीक्षा दी। अंग्रजी में अनुत्तीर्ण हो गया। फिर वाराणसी के एक प्राइवेट विद्यालय में 10वीं की पढ़ाई की। अच्छे अंकों से उत्तीर्ण हो गया। और बी.एच.यू. जाने का मार्ग खुल गया और यहां से सीधे चलता रहा (चलता जा रहा हूँ।

**कलानाथः** मिश्र जी! जीवन के उन संघर्ष पूर्ण दिनों में भी आपका सृजन चलता रहा। संघर्ष के बीच के अपने सृजनधर्मिता पर कुछ प्रकाश डालिए।

**रामदरश मिश्र :** सृजन मेरा शौक नहीं था जो विपरीत परिस्थितियों में छूट जाए। वह मैं था यानी वह मेरा पर्याय बन गया था। अतः हर स्थिति में वह न केवल जीवित रहा वरन् जीवन की हँसी हँसता रहा। संकट आते रहे किन्तु मेरा सृजन न केवल स्वयं जीवित रहा बल्कि संकटों में मुझे उर्जा और विश्वास देता रहा।

**कलानाथः** आपने कई विधाओं में रचना की है। अपने ही रचना के पाठक होकर आप को कैसा लगता है। मेरा आशय है कि रचनाकार रामदरश मिश्र की रचनाओं के पाठक के रूप में आप कैसा महसूस करते हैं?

**रामदरश मिश्र :** जब मैं स्वयं अपनी रचनाएं पाठक की तरह पढ़ता हूँ, तब, लगता है कि अरे यह सब मैंने ही लिखा है। यह भी लगता है कि कुछ रचनाएं न रही होती तो अच्छा रहा होता। वे बुरी नहीं लगती हैं, किन्तु, अन्य अच्छी रचनाओं के बीच उनका होना कुछ खटकता है। मैं समय के साथ चलता रहने वाला लेखक हूँ। अतः मुझे अपनी रचनाओं का पाठ विभिन्न समयों के सत्य के साथ जोड़ देता है। गुजरा समय मुझ में स्पंदित हो उठता है।

**कलानाथः** आप एक लोकप्रिय गजलकार भी हैं। अपके कई गजल संग्रह प्रकाशित हैं। जैसे हँसी ओठ पर आँखें नम हैं, बाजार को निकलते हैं लोग, तू ही बता ऐ जिंदगी आदि। आपके कई गजल लोक कंठ में हैं। जैसे ' बनाया है मैंने ये घर धीरे-धीरे, खुले मेरे ख्वाबों के पर धीरे-धीरे' या फिर 'आज धरती पर झुका आकाश तो अच्छा लगा, सिर किये ऊँचा खड़ी है घास तो अच्छा लगा' हिन्दी गजल के पाठकों और शायरों के लिए आप क्या कहना चाहेंगे?

**रामदरश मिश्र :** हिन्दी के ग़जलकारों से कहना चाहता हूँ कि यदि वे गजल को हिन्दी गजल बना रहे हैं तो उसे हिन्दी की तरह लिखें। शब्द बोलचाल के तो हों ही, वे हिन्दी में जिस तरह लिखे जाते हैं उस तरह लिखें जाए। यानी सुबह सुबह रहे सुब्ह न हो (शहर शहर रहे शह्र न हो(मेरी-तेरी मेरी-तेरी रहे मिरी-तिरी न हो जाए। छन्द का अनुशासन भी हिन्दी का हो।

**कलानाथः** साहित्यिक जीवन में आपको अनेक पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है जिसमें भारत भारती सम्मान, हिन्दी अकादमी द्वारा 2001-2002 का शलाका सम्मान, तीन वर्ष पूर्व कविता संग्रह 'आम के पत्ते' के लिए 21वाँ व्यास सम्मान से आपको सम्मानित किया गया। आपको कैसा महसूस होता है। कौन सा सम्मान पाकर आपको सबसे अधिक प्रसन्नता हुई?

**रामदरश मिश्र :** मुझे सभी पुरस्कार अच्छे लगे। किन्तु व्यास सम्मान मेरी कविता पुस्तक 'आम के पत्ते' पर दिया गया। अतः अधिक प्यारा लगा।

**कलानाथ:** मिश्र जी 'आम के पत्ते' को व्यास सम्मान के लिए चुने जाने के पीछे उसके सृजनकार के रूप में आप क्या विशेषता पाते हैं। हमें कुछ बताएं।

**रामदरश मिश्र :** 'आम के पत्ते' की विशेषताओं का बखान करना मेरे लिए उचित नहीं होगा। निर्णयकर्ताओं ने क्या विशेषता देखी, यह तो वे ही बता सकते हैं।

**कलानाथ:** मिश्र जी आर्रंभिक दिनो में आप कई जगह रहे बाद में दीर्घ काल से दिल्ली में आकर बस गए फिरभी अपकी रचना में ग्राम चित्र, ग्रामीण संस्कृति, गाँव की मिटी का गंधा सर्वत्र विद्यमान है। हमें यह बताइए कि गाँव आपको नहीं छोड़ता या आप गाँव को नहीं छोड़ते?

**रामदरश मिश्र :** न गाँव मुझे छोड़ता है, न मैं गाँव को छोड़ता हूँ। दोंनो एक दूसरे में बसे हुए हैं। हमारी रचनाओं में जो सादगी, सहजता और मूल्यबोध है वह मेरे व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है

**कलानाथ :** मिश्र जी आजकल स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श दोनों पर खूब लिखा जा रहा है। आप इन विमर्शों को किस रुप में देखते हैं?

**रामदरश मिश्र :** स्त्री-विमर्श और दलित-विमर्श इस अर्थ में प्रासंगिक है कि लेखिकाएं और दलित लेखक स्त्रियों और दलितों की चिन्त्य स्थितियों का अनुभवजन्य चित्रण करते हैं। ये अपने आप में बहुत मूल्यवान बात है। किन्तु, लेखिकाएं और दलित लेखक स्वयं को चर्चित करने के लिए एक घेरा बना लेते हैं और साहित्य की राजनीति करने लगते हैं। वह बात कुरूप हो जाती है। दरअसल, स्त्रियों और दलितों पर अन्य अनेक लोंगो ने लिखा है। उनके लेखन की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए।

**कलानाथ:** वर्तमान में स्त्री-विमर्श के नाम पर देह-विमर्श अधिक हो रहा है। आप इस पर क्या कहेंगे? स्त्री स्वतंत्रता को किस रूप में देखते हैं आप?

**रामदरश मिश्र :** स्त्री-विमर्श के नाम पर जो देह-विमर्श हो रहा है, वह अपने आप में फूहड़ तो है ही, उससे नारी का पक्ष कमजोर होता है। स्त्री को पुरूष के समान अस्मिता और अधिकार चाहिए। स्त्री-विमर्श का यह उद्देश्य होना चाहिए।

**कलानाथ:** मिश्र जी आप आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के प्रिय शिष्य में से रहे। गुरू के रूप में उनके व्यक्तित्व पर कुछ प्रकाश डालिए।

**रामदरश मिश्र :** मैं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के प्रिय शिष्यों में से रहा हूँ। यह मेरा सौभाग्य है। आचार्य द्विवेदी एक महान लेखक तो थे ही महान व्यक्ति भी थे। शिष्यों के प्रति तथा आमजन के प्रति भी उनके मन में खुला स्नेह था। उनके साथ बैठकर अनजान से अनजान व्यक्ति को भी लगने लगता था कि उसे द्विवेदी जी के व्यक्तित्व का प्रकाश प्राप्त हुआ है। और उनके व्यक्तित्व की बहुत सी ऐसी बातें हैं जिन्हें कहने के लिए काफी समय और स्थान की आवश्यकता होगी।

**कलानाथ:** आज एलेक्ट्रानिक संचार माध्यमों के चलते अंग्रेजी मिश्रित हिन्दी का प्रभाव बढ़ रहा है। एक नाम ही दे दिया गया है 'हिंग्लिश'। कुछ लोग मानते हैं कि क्या बुरा है? भाषा का काम है संप्रेषण। आपकी दृष्टि में क्या इससे हिन्दी का विकास अवरूद्ध होगा?

**रामदरश मिश्र :** किसी भी भाषा में अन्य भाषाओं के शब्दों का आगमन होता ही रहता है। मगर

यह सहज भाव से होना चाहिए। हिन्दी में अंग्रेजी के बहुत से शब्द आकर घुल-मिल गये हैं। और वे बुरे नहीं लगते। लेकिन, आजकल इलेक्ट्रानिक संचार माध्यमों के चलते अंग्रेजी के तमाम शब्दों को हिन्दी में भरा जा रहा है और हिंग्लिश नाम दिया जा रहा है। वह चिंत्य है। इससे हिन्दी का स्वरूप विकृत होगा और विकास भी अवरूद्ध होगा।

**कलानाथ:** मिश्र जी आपका स्नेह और सानिध्य मुझे दीर्घकाल से प्राप्त होता रहा है। जितना मैने जाना आपकी सफलता में आपकी धर्मपत्नी आदरणीया सरस्वतीजी का विपुल योगदान है। एक जगह आपकी पुत्री डा. स्मिता मिश्र का एक लेख पढ़ा जिससे यह स्पष्ट होता है कि सरस्वतीजी का दृढ़ व्यक्तित्व आपके भावुक मन को सही निर्णय हेतु रास्ता दिखाता रहा तथा संघर्ष के दिनों में सहारा दिया। मैं इस संबंध में आपसे कुछ जानना चाहूँगा।

**रामदरश मिश्र :** हाँ, यह सच है कि मेरे रचनाकर्म और जीवन-यात्रा में सरस्वती जी का सहयोग बहुत महत्वपूर्ण है। उन्होंने मुझे परिवार के दायित्वों से मुक्त कर पढ़ने-पढ़ाने और लिखने के लिए छोड़ दिया था। वे मेरे सुख-दु:ख की सच्ची साथी रही हैं। संकटों में घिर कर जब भी में हताश हुआ वे मेरा विश्वास और शक्ति बन कर खड़ी हो गयी। मेरे अभाव के दिनों में या कभी भी उन्होंने मुझसे कोई भौतिक वस्तु नहीं चाही। सादगी के साथ उनका जीवन चलता रहा।

**कलानाथ:** आप साहित्य में एक लम्बी यात्रा तय कर चुके हैं और आज भी अत्यधिक सक्रिय हैं। अपने भविष्य की योजनाओं के सम्बन्ध में हमें कुछ बताइये।

**रामदरश मिश्र :** भविष्य के सम्बन्ध में मेरी कोई योजना नहीं है। 91 वर्ष की वय में क्या योजना बनाई जा सकती है। बस, मैं कुछ कवितायें और डायरी लिख लेता हूँ।

**कलानाथ:** अपने जीवन की कुछ रोचक घटना बताइए?

**रामदरश मिश्र :** मेरी आत्मकथा में मेरे जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाएं हैं। जिन्हें रूचि हो पढ़ लें।

**कलानाथ :**आगे की पीढ़ी के रचनाकारों को कुछ कहना चाहेंगे।

**रामदरश मिश्र :** अपना रास्ता बनाने में कुछ समय तो लगता है, लेकिन वही सही होता है। अत: आगे के रचनाकारों से कहना है कि वे अपना रास्ता स्वयं बनाये। किन्तु, मेरी बात को कोई सुनेगा भी क्या?

**बहुत-बहुत आभार और धन्यवाद मिश्रजी आपसे बात कर बहुत अच्छा लगा**
**धन्यवाद!**

# डॉ. रामदरश मिश्र
# जितना मैं जान सका

० विष्णु प्रभाकर

**बुद्धिजीवी तो डॉ० रामदरश मिश्र भी हैं, लेकिन प्रथम दृष्टि में मुझे लगा कि देहात का कोई प्रबुद्ध व्यक्ति, प्रबुद्ध होकर भी अपने को देहात से मुक्त नहीं कर पा रहा है। आज भी मेरे मन पर उनकी छवि अंकित है और उनके समूचे साहित्य में बार-बार वही द्वन्द्व मुखर हो उठता है। और मन पर वह प्रभाव छोड़ जाता है कि 'नगर में आ निकला, देहात की माटी की सौंधी-सौंधी गंध लिये, एक इन्सान जो यहां की प्रकृति और संस्कृति से दूषित वातावरण से संघर्ष कर रहा है।**

कवि ने कहा है 'भारत माता ग्रामवासिनी' अर्थात् भारत गांव में बसता है लेकिन आज का युग तो नगरों का है और जब गांव का निवासी नगर में आकर बसने को विवश हो जाता है, तो उसकी मानसिक स्थिति क्या होती है, इसकी झलक और गहरी पीड़ा डॉ0 रामदरश मिश्र के व्यक्तित्व और साहित्य में मिलती है। ठीक याद नहीं, मैं कहीं जा रहा था-सामने से देखता हूँ कि तीन प्राध्यापक और साहित्यकार चले आ रहे हैं। बीच में हैं दीर्घकाय कुर्त्ता-धोती पहने, आँखों से सहज मुस्कान बिखेरते डॉ0 रामदरश मिश्र और उनके दोनों और नातिदीर्घ-काया वाले दो सहयोगी प्राधयापक। याद नहीं वे कौन थे, पर थे आधुनिक बुद्धिजीवी ही। बुद्धिजीवी तो डॉ0 रामदरश मिश्र भी हैं, लेकिन प्रथम दृष्टि में मुझे लगा कि देहात का कोई प्रबुद्ध व्यक्ति, प्रबुद्ध होकर भी अपने को देहात से मुक्त नहीं कर पा रहा है।

आज भी मेरे मन पर उनकी छवि अँकित है और उनके समूचे साहित्य में बार-बार वही द्वन्द्व मुखर हो उठता है। और मन पर वह प्रभाव छोड़ जाता है कि 'नगर में आ निकला, देहात की माटी की सौंधी-सौंधी गंध लिये, एक इन्सान जो यहां की प्रकृति और संस्कृति से दूषित वातावरण से संघर्ष कर रहा है, याद करके गांव गोट के संघर्षशील नर-नारियों को। वहां के प्रदूषण से वह बेखबर हो, ऐसा नहीं है। जमींदार, महाजन और राजनीति के शिकंजे में तड़पते, निपट देहातियों में

भी वह खोज लेता है संघर्षशील इन्सानों को।'

मैंने चर्चा की है उनकी अन्तर तक को भिगो देने वाली सहज मुस्कान की, लेकिन कभी-कभी उस सहज मुस्कान में शरारत की झलक भी दिखाई दे जाती है। अपने पूर्व परिचित को देखते ही वह ललक कर छाती से चिपटा लेते हैं। नागरिकता की दूरी पैदा करने वाली भावना, उनके स्नेह के स्रोत को नहीं सुखा सकती। मुझे उनके बहुत पास जाने का सौभाग्य तो नहीं मिला। केवल एक बार उनके घर गया था और मैंने तब अनुभव किया था कि मुझे नहीं लगता कि यह घर मेरा नहीं है। बड़े समारोह में कोई पुराना शिष्य या शिष्या लपककर उनकी ओर आए वह उन्हें सहेज न लें, ऐसा हो ही नहीं सकता।

'भारतीय लेखक संगठन' का एक अधिवेशन हमने गुजराती भाषा के साहित्यकारों के सहयोग से अहमदाबाद में किया था। मैं वहां यह देखकर चकित रह गया कि वहां के बहुत से साहित्यकार और प्राध्यापक ऐसे ललक कर उनसे मिलते रहे जैसे वह उनके गाँव के हों। तब मुझे पता लगा कि वह आठ-दस वर्ष तक गुजरात के विभिन्न विद्यालयों में प्राध्यापक रहे हैं। एक बात मैंने तब भी अनुभव की कि वह सबसे गाँव के एक बुर्जुग की तरह ही मिलते थे। भीगी आँखे और स्नेहसिक्त मुस्कान से मण्डित चेहरा।

देहरादून में भी कोई ऐसा ही अवसर आया। मैं भी आमंत्रित था वहां। जब मैं डॉ0 शशि प्रभा शास्त्री के घर पहुँचा, तो देखता हूँ कि वह समारोह के आयोजन के बोझ से दबी घबरा रही है और डॉ0 रामदरश मिश्र उनके पास बैठे, मुस्कराते हुए उनकी ओर देख रहे हैं। घर के एक बड़े बुर्जुग की तरह और वह भी गाँव का बुर्जुग। अपनत्व से सराबोर यह गाँव का अनपढ़ व्यक्तित्व शहर के आडम्बरपूर्ण वातावरण में अपनी पहचान कभी नहीं खो पाता।

विपुल साहित्य की रचना की है उन्होंने। और उस पूरे साहित्य में गांव और शहर का यह द्वन्द्व बराबर उभरता रहा है। गांव से बिछुड़ने की पीड़ा बार-बार उभर उठती है। 11 कविता संग्रह, 11 उपन्यास, 12 कहानी संग्रह, 11 समीक्षा ग्रन्थ, निबन्ध-संग्रह, यात्रा-वृतान्त, संस्मरण, आत्मकथा, सब कहीं उन्होंने सहज भाव से आकलन किया है वातावरण का। न केवल बाहरी वातावरण का बल्कि आन्तरिक वातावरण का भी। उनकी चिन्तन-धारा, विचारों की कलात्मक अभिव्यक्ति, सब कुछ है, लेकिन देहात वहाँ भी नहीं छूटता, उनकी मज्जा में बस गया है वह। उनके अपने अतीत का दस्तावेज ही नहीं है, बल्कि वर्तमान का दस्तावेज भी है।

उन्होंने अपने एक निबंध में लिखा है, 'अब जब कभी गाँव जाता हूँ तो प्रकृति उसी पुरानी सहचरी की तरह लगती है। अक्षयगंधा, अक्षयरूपवती, अक्षयरसमयी, लेकिन गाँव के लोग वैसे नहीं लगते। उनके संबंध, उनके मूल्य टूट गये हैं। फक्कड़पन, बनियागीरी में बदल गया है। त्योहार-पर्वों का उल्लास, पैसे और राजनीति की हलचल में खो गया है, अब उसमें जीवन देने की ताकत नहीं रह गई है।'

अपनी रचना 'जहाँ मैं खड़ा हूं' में उन्होंने अपने बचपन के नितान्त अभावग्रस्त पर सघन जीवन

के चित्र उकेरे हैं, तो मस्ती का जीवन जीने का रहस्य भी बताया है। इसके लिए वह अपने माता-पिता और बड़े भाई के ऋणी हैं। सभी ममता से पूर्ण, पर माँ ऊर्जा से भरी-भरी। संघर्ष और अभाव में गौरवमयी। पिता दब्बू और भावुक, पर मित्रों जैसा खुलापन था उनमें। भाई अपने लिए संन्यासी पर परिवार के लिए सर्वस्व दाता। ये सब पढ़ते हुए मुझे लगा जैसे मैं अपने ही अतीत को देख रहा हूँ। बिल्कुल ऐसे ही वातावरण में, मैं पला और पनपा गाँव में। और फिर शहर में आकर उसी संस्कृति को ओढ़ने को विवश हो गया जिसकी चर्चा मिश्र जी अपने कथा साहित्य में बार-बार करते हैं।

गाँव का चित्रण तो उनकी लेखनी से अपनी पूरी सम्पूर्णता में ऐसे झरता है जैसे पर्वतांचल में झरने झरते हैं। इसी रचना का एक लम्बा उद्धरण देने का लोभ मैं संवरण नहीं कर पा रहा, इसलिए भी नहीं कर पा रहा कि वह उनकी आस्था के स्रोत का साक्षी है-'अभाव के कीड़े-मकोड़े के दंश से तड़पते कछार के जीवन में कहीं बहुत बड़ी जीवनी शक्ति थी, रस को कोई अक्षय स्रोत था जिससे वह जीवन टूटकर भी नहीं टूटता था, रिसकर भी नहीं रीतता था...बाढ़ हटते ही भूमि नहा-धो कर उभर जाती थी और नये बीज डालने का उत्साह चारों ओर छा जाता था। मिट्टी अपने भीतर की सोंधी महक लुटाने लगती थी। जल निथरने लगते थे, घाट चालू हो जाते थे। फिर दशहरा, दिवाली, कार्तिक पूर्णिमा के त्यौहार तरह-तरह की छवि लिये आते थे, जीवन विहँस पड़ता था, अपने अभावों में भी गाने लगता था, अकेलेपन से बाहर आकर समूह की माला में गुंथ उठता था... भविष्य का एक सपना आँखों में पलने लगता था...प्रकृति लेती है, तो देती भी है।'

'चर्चित कहानियाँ' संग्रह में उनकी एक कहानी है, 'एक और एक जिन्दगी'। उसमें जैसे उनके उपर्युक्त विचार मूर्त हो उठे हैं। स्वयं ही वह उस कहानी को कह रहे हैं। उनका एक सहपाठी था नरेश। खानदान तो वैसे उसका अपनी नंगई और गुण्डागर्दी के लिए मशहूर था, पर वह समझदार और नेक दिल था। मिडिल पास करके वह एक प्राइमरी स्कूल में शिक्षक हो गया था। उसी की बहू थी भवानी।

लेखक जब गांव पहुंचता है तो देखता है कि भवानी खेत में कुदाल चला रही है। जमीन की परतें तोड़ रही है। ब्राह्मण अभिजात्य की जनी हुई सतह तोड़ रही है, नए बीज उगाने के लिए। वह विधवा है। पति और परिवार के दूसरे लोग हैजे की बीमारी में चल बसे। नरेश का पिता कोदई भी एक दिन मर जाता है। पाँच वर्ष बाद जब लेखक गाँव में जाता है तो उसकी कहानी सुनकर चकित रह जाता है। लेखक का मित्र सुकुमार उसे बताता है-'जानते हैं भइया, कोदई की तेरही होते ही वह घर से निकल पड़ी। गाँव की चकित बुढ़ियों ने समझाया- 'बहू अभी तुम्हें शोभा नहीं देता इस तरह से घूम-घूम कर काम करना। अभी नरेश को मरे कितने महीने हुए हैं और अभी कोदई को मरे कितने दिन हुए हैं। अरे कुछ पूजा-पाठ में मन लगाओ, उसकी आत्मा को शान्ति मिलेगी।'

भवानी ने बड़ा रूखा-सा उत्तर दिया-'हाँ ठीक कहती हो काकी जी, मैं पूजा-पाठ में मन लगाऊँ और गाँव वाले मेरी खेती-बाड़ी में मन लगाएं और एक दिन पूजा से जागकर पाऊँ कि मेरे

सारे खेत पट्टीदारों के नाम हो गए हैं और मैं अपने दोनों बच्चों को लेकर भिखारिन-सी रास्ते पर खड़ी रहूँ। इससे उसकी आत्मा को शान्ति मिलेगी न।'

लेखक लिखता है-'भवानी ने अपना घूंघट उलट दिया, मानो सारे गाँव का घूंघट उलट गया। वह घूम-घूमकर अपने सारे खेत देख आई, पहचान आई। खेत थे ही कितने, केवल दो बीघे, मगर कई टुकड़ों में बंटे हुए।' कैसे अपने खेतों को सम्भाला, कैसे अपनी ओर बढ़ते ललचाई आँखों से देखते गुण्डों से लोहा लिया। बड़े दर्दनाक संघर्ष की कहानी है वह। ऐसे संघर्ष की जिससे वह जूझती है पर टूटती नहीं। कामातुर धनपतियों के मुँह पर दाँत काट लेती है, मानों शोहदेपन की छाती में छुरा घोंप देती है। लेखक अपने मित्र से कहता है। 'बड़ी दु:खी है बेचारी।'

मित्र का उत्तर है-'दु:खी? नहीं भइया वह दु:खी नहीं है। दुखी तो वे लोग हैं जो खूब खा-पीकर, दूसरों को हड़पकर मुंह लटकाए रहते हैं। उसे देखिए, कभी उसके चेहरे को बुझा हुआ नहीं पायेंगे। चक्की चलाते समय, खेत काटते समय, रास्ता चलते समय, उपवास सहते समय, गाती ही रहती है। सबसे हँसकर ही बोलती है। पता नहीं भीतर का इतना रस उसे कहाँ से मिला।'

तीर्थ-व्रत सब छोड़ दिए उसने, गजब की हिम्मत है उसमें। माघ, पूस, फागुन हो, वह खेतों में हवा के समान दौड़ती रहती है और गांव वालों से लोहा लेती रहती है। बरस पर बरस बीतते गये उसे ऐसे ही जूझते अभावों से, कुरूपता से, अन्धकारों से, उपवास पर उपवास किए, बाधाओं पर बाधाएँ थीं, लेकिन किसी के सामने झुकी नहीं। अपार जीवट पाया है इस औरत ने। अपने कोले के अमरूदों, जामुनों, निंबुओं को ले जाकर बाजार में बेचने लगी, तो लोग झल्लाए। 'गाँव की नाक कट नहीं है, ब्राह्मण की औरत का कुजड़िन की तरह बाजार में बैठना बड़ा खराब है।'

भवानी ने कहने वालों को सुना दिया, 'और जूठी हांडी में मुँह डालते घूमना', खलियान फूंक देना, बैल चुरा लेना ब्राह्मण का काम है?'

इतना ही नहीं लेखक लिखता है 'जब हम दशहरे के मेले में जा रहे थे, तो भवानी खेत में अपने लड़के के साथ हेंगा खींच रही थी और लड़की हेंगे पर चढ़ी हुई थी। मैंने कल्पना नहीं की थी कि स्वतंत्र भारत में एक औरत बैल की तरह हल हेंगा खींच सकती है। मुझे देखकर उसने पसीना पोंछा और हँसती हुई बोली, 'बाबा मेला जा रहे हैं...अच्छा कर रहें हैं बाबा, आए हैं तो अपनी जमीन को पूरा अपनाकर जाइए।'

लड़के चिल्ला रहे थे-'नीलकण्ठ नील बारी-बारी/सीता से कहिह भेंट अकवारी/ हमार नाव कसन मुरारी।'

भवानी ने क्षण भर का मौन तोड़ते हुए कहा, 'बाबा सीता जी से मेरी भेंट अकवार कह दिजीएगा।

'कह दूंगा।' कहकर मैं अनमना-सा आगे बढ़ा, पीछे एक गुनगुनाती हुई आवाज छूट रही थी।

यही आवाज रामदरश मिश्र के पूरे साहित्य में गूंज रही है। सारे चित्र खींचने लगूं तो पूरा एक ग्रंथ हो जाएगा। गाँव के नर-नारियों के बोलते चित्र उकेरे हैं उन्होंने। लेकिन उनके सपनों की नारी

भवानी ही है। जो शहर में कहीं दिखाई नहीं देती। ऐसी ही एक कहानी है 'हद से हद तक'। उसका अन्त देखिए। 'एक बुढ़िया है उसकी बेटी थी, जो मर गई, दवा के बगैर तड़प-तड़प कर। एक दिन उसने एक ऐसी ही लड़की को देखा, जिसका सब कुछ लुट गया था। दर्दनाक कहानी थी उसकी, कहाँ जाए वह, तभी वह बुढ़िया उसके पास पहुँची, बोली, 'चल, मेरे यहाँ चल।'

वह कुछ नहीं बोली, केवल खड़ी रही। और बिखरते लोग जाते-जाते फिर रूक गए थे। बुढ़िया बोली, 'चल बेटी, ये जितने तमाशा लेखने वाले हैं न, औरत का दु:ख नहीं समझते ये केवल मजे लेते हैं। अभी तू इन्हें अकेले में मिल जाए न, तो तेरा पाँव चाटने लगेंगे। लेकिन खुले आम, कुलटा कहेंगे, छिनाल कहेंगे।'

'ऐ बुड्ढी, क्या बक रही है, तेरी शामत आई है क्या? कुछ लोग चिल्लाए।

'चल बेटी, चल इन्हें भूंकने दे। सरकार का दिया हुआ कमरा है, अपनी कमाई का खाती हूँ मुझे किसी का डर नहीं।'

और वह उसके साथ हो ली, लोग देखते रह गए।

बुढ़िया बोलती जा रही थी, 'मेरा कोई नहीं, मैं चौका बर्तन करती हूँ। तेरी जैसी एक बेटी थी, वह बीमारी में दवा बगैर तड़प-तड़प कर मर गई। तुझे देखा तो उसकी याद आ गई। देख बेटी मैं जानती हूँ, औरत बुरी नहीं होती, उसे बुरा बनाया जाता है। तू जो भी रही हो, अपनी मर्जी से नहीं रही होगी। लेकिन अब तू अपने हाथों के काम पर जीना सीख। तुझे चौका बर्तन के कुछ काम दिला दूंगी। थोड़ा ही मिलेगा, लेकिन उससे मन को चैन मिलेगा। समझी न बेटी।'

वह चुप थी, 'बोली हाँ, माँ समझ रही हूं।'

'तेरे मुँह से 'माँ' कितना प्यारा लगता है बेटी।'

'हाँ माँ, आँ... आँ...' वह रोने लगी थी। बुढ़िया की आंखों में उसकी माँ की आँखे उतर आई थीं।

बहुत कुछ है कहने को। इसी संग्रह की अन्तिम कहानी 'अपने लिए' एक औरत की ऐसी कहानी है। बिना बताए एक पागल से उसका विवाह कर दिया। फिर जो कुछ होता है, वह होता है, लेकिन वह भाग जाने का मन बनाकर उसे छोड़ नहीं पाती।

'सोचा था रात को भाग जाऊँगी। वह रात को कहीं बड़बड़ाते हुए आए, देखा उनके ललाट से खून बह रहा था। लगता था किसी से लड़ाई-झगड़ा किया है। मरहम-पट्टी की गई।'

खा-पीकर मेरे कमरे में सोये तो कुछ शान्त थे। मैं जगी थी। बैठी-बैठी उन्हें देख रही थी। धीरे-धीरे मन में उनके प्रति करूणा उमड़ने लगी। आखिर मेरी ही तरह इस आदमी का भी क्या दोष है? कौन चाहता है पागल होना? लोग पागल बना देते हैं। क्या मैं इन्हें असहाय छोड़ जाऊं? मेरे भागने पर मुझे क्या मिलेगा मौत के सिवाय? नहीं, मैं कहीं नहीं जाऊंगी। लड़ूँगी अपने भाग्य से। लड़ूँगी इस आदमी के लिए। लड़ूँगी अपने लिए।

इधर जो उन्होंने नई कहानियाँ लिखी हैं, उनमें और भी निखार आया है। सहजता की बात हम

छोड़ भी दें तो परत-दर-परत खुलती उनकी कई कहानियां इस बात का प्रमाण हैं कि वे मानवीय संवेदना और मानवीय चरित्र को अपने सही रूप में बड़ी गहराई से तलाश करते नजर आते हैं। 'गगनांचल' के जनवरी मार्च 98 के अंक में उनकी कहानी 'परिणति' इसी ओर संकेत करती है। 'परिणति' की ही तलाश है उन्हें। और ये पंक्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं-'अब यही देखो, अभी तक हम लोग बहुत साफ-सुथरे ढंग से जी के जीवन और व्यक्तित्व की गलाजतों को देख रहे थे, उन पर हँस रहे थे, घृणा कर रहे थे, क्रोध कर रहे थे, किन्तु ज्यों हीं थोड़ा ठहरकर गलाजतों के अन्दर देखना शुरू किया, उनका रंग बदलने लगा, दूसरे आयाम खुलने लगे और मन इतनी आसानी से जीवन पर न हँस पा रहा है, न घृणा कर पा रहा है, न क्रोध कर पा रहा है बल्कि एक यंत्रणा-बोध सा अनुभव कर रहा है।'

केवल उनके कहानियों में ही नहीं, बल्कि उपन्यासों में भी शहर और गांव का गहरा तुलनात्मक अध्ययन मुखर हुआ है। छोटे-नगरों को भी उन्होंने बहुत पास से देखा और परखा है। अपने उपन्यास 'अपने लोग' में छोटे शहर को गंवई शहर कहते हैं। 'अजीब लेथारजिक शहर है यह। किसी में कोई स्फूर्ति ही दिखाई नहीं पड़ती है। किसी को कोई शिकायत ही नहीं होती और होती भी तो अलग-अलग। दिल्ली की जिन्दगी के बाद यहाँ की जिन्दगी कितनी सुस्त मालूम पड़ती है। दिल्ली की जिंदगी चुस्ती से मुँह में सिगार दबाये कार या स्कूटर पर भागती दिखाई पड़ती है। और यहाँ की जिन्दगी जैसे आहिस्ता-आहिस्ता सुरती मलती है, ठोंकती है, इतमिनान से ओंठों के बीच दबाती है और फिर पैदल या रिक्शे पर चल पड़ती है। दिल्ली में लोग जैसे सुबह को जगाते हैं और यहाँ सुबह लोगों को जगाती है। आदि-आदि।'

नगरों के राजनीतिक पैंतरों का भी बड़ा मुँह-बोला चित्रण किया है उन्होंने। बुद्धिजीवी और सृजनात्मक साहित्यकार में जो अन्तर है उसे भी वह रेखांकित करते हैं। अपने पात्र शिवराज चौधरी का परिचय देते हुए वह कहते हैं, 'वह बहुत लचीले व्यक्ति हैं, सबकी पीड़ा से पिघल जाते हैं। वे वियतनाम के दर्द से भी पिघलते हैं, और कांग्रेस के दर्द से भी। वे एक साथ आधुनिकता का चश्मा लगाकर दिल्ली और पेरिस को भी देख सकते हैं और अपने अफसर के घर के किचन को भी। वह एक ही साथ मार्क्स, गांधी, लोहिया और इन्दिरा सबके गीत गा सकते हैं। रामप्रसाद बिस्मिल की तस्वीर को देखकर भी उनकी आँखें नम हो जाती है।

वह नर-नारी के संबंधों को भी गहराई से देखते हैं। उसकी नारी-मात्र मार खाने वाली या पुरुष के प्यार के चंगुल में पिघलने वाली नहीं है। उनके एक पात्र बी. लाल अपनी होने वाली पत्नी को एकान्त में बुलाकर उससे बातें करते हैं- 'तुम्हें बेहद प्यार करता हूँ। बात यह है कि तुम इतनी सुंदर हो कि तुम्हारे पास आकर मैं होशो-हवास खो बैठता हूं। तुम मेरी हो और तुम्हारी ये सब चीजें भी मेरी हैं।'

मंजरी उत्तर देती है-'ये सब चीजें तो वेश्या के पास भी होती हैं बी.लाल। लेकिन जहाँ सच्चा प्यार होता है, वहाँ इस बात का विवेक भी होता है कि इन चीजों का उपयोग कब और कहाँ किया

जाए। प्यार में इन चीजों के उपयोग से बड़ी चीज होती है अपने प्रिय की इच्छा-अनिच्छा, सुख-दुख और इज्जत को समझना।'

यह ठीक है कि आज के बड़े नगरों के जीवन के लिए इन बातों का कोई अर्थ नहीं है पर भविष्य में नहीं होगा, यह कौन कह सकता है। इसी उपन्यास में मिश्र राप्ती नदी को संबोधित करते हुए जो कुछ कहते हैं, वह आज की सही तस्वीर है-'लेकिन आदमी ने आदमी से छल करके उस प्यार और मार का अलग-अलग बंटवारा कर लिया है। काश, उसने तुम्हारी सहज फुसकार को बांधकर सबके लिए ऊर्जा में बदल दिया होता और तुम्हारे प्यार को और भी गाढ़ा बन लिया होता। वर्षों दूर रहकर भी मैं अनुभव कर रहा हूँ तुम्हीं मुझ में जी रही हो। माना कि तुम्हारा समाजवाद अधूरा है किन्तु समतामूलक तो है। क्या तुम्हारे समाजवाद से हम कुछ भी सीख नहीं सकते? कुछ भी नहीं...।'

इसी तरह साम्प्रदायिक समस्या के यथार्थ को उन्होंने पकड़ा है और उसे भड़काने वाले पेशेवर लोगों को बेनकाब किया है। सामन्य हिन्दू या मुसलमान अफवाहों के चक्रव्यूह में फँसकर ही अपने विवेक खो देता है।

मिश्र जी के सौम्य और सरल व्यक्तित्व के पीछे यथार्थ के लिए कितना आग्रह है, उस यथार्थ के माध्यम से ही वह सच को पकड़ना चाहते हैं। वह कवि भी हैं, पर मैंने उनकी कविता की चर्चा नहीं की। लेकिन उनमें भी वह आज के यथार्थ को नहीं भूले हैं 'नयी शताब्दी' शीर्षक कविता की पंक्तियाँ इसका प्रमाण हैं।

'क्या विज्ञान की मेधा की पिशाची ज्वाल/ संस्कृति के रेस का वरदान पायेगी
क्या हम आकाश को संवारने से पहले/ देखेंगे कि हमारी धरती कैसी है?'

और अन्त में उनकी एक और कविता 'प्रतीक्षा' उद्धृत कर रहा हूँ। उसके बाद कुछ कहने को नहीं रह जाता-

'एक-एक कर सब चले जा रहे है / उसे अकेला करते हुए
छोड़ते हुए सन्नाटे पर सन्नाटे / उसे लगता है
आगे आने वाला सन्नाटा और भी बड़ा है / फिर लगाता
वह किसी न किसी की प्रतीक्षा में खड़ा है।''

✧ ✧ ✧

# चमत्कृत नहीं स्पंदित करती हैं : डॉ. रामदरश मिश्र की गजलें

नरेश शांडिल्य

**डॉ० मिश्र के लेखन में प्रेम, प्रकृति, गाँव, घर, परिवार, समाज, मूल्य, संस्कार, जीवन से जुड़ी तमाम बातें प्रमुखता से सामने आती हैं फिर चाहे कविता हो, कहानी हो, उपन्यास हो, डायरी हो या अन्यान्य विद्याएँ... यही वजह है कि उनकी गजलें भी इस सबसे अछूती नहीं हैं। वे गजल की बनी-बनाई परिभाषा के ढर्रे में कैद होकर लिखना पसंद नहीं करते। वे अपने मूल स्वभाव में बसी सहजता और स्वच्छन्दता के बल पर ही गजलों में आगे बढ़े हैं।**

हिन्दी साहित्य के 'शिखर पुरूष' प्रख्यात साहत्यिकार डॉ0 रामदरश मिश्र कवि, कथाकार, लेखक, निबंधकार, आलोचक आदि के रूप में पाठकों के मानस में बहुत गहरे पैठे हैं।

उन्होंने साहित्य की लगभग हर विद्या में लिखा है। मेरी समझ में मूलत: वे कवि हैं और सम्भवत: इसी कारण हिन्दी-गजल की लोकप्रियता के चलते गजल-विद्या में भी उन्होंने जमकर लिखा है। उन्होंने जितनी भी गजलें कह हैं, वे हिन्दी-गजल-संसार में बहुत विशेष दर्जा रखती हैं, क्योंकि उनकी गजलें 'मुसलसल-गजालों' की श्रेणी में आती है जिनमें गीतों जैसी 'भावात्मकता' और 'एकात्मकता' के दर्शन होते हैं। ये गजलें आपको चमत्कृत नहीं करतीं लेकिन भीतर तक स्पंदित, झंकृत और आनन्दित करने का माद्दा रखती हैं। इस मायने में डॉ0 रामदरश मिश्र एक बिल्कुल अलग पहचान वाले हिन्दी-गजलकार के रूप में जाने जायेंगे।

मुझे डॉ0 मिश्र के सभी गजल संग्रहों को पढ़ने का अवसर मिला, यथा-'बाजार में निकले हैं लोग', 'हँसी ओंठ पर आँखें नम हैं', 'तू ही बता ऐ जिन्दगी' और '51 गजलें-डॉ0 रामदरश मिश्र'... ....कहा जा सकता है कि इतनी तादाद में गजलें कहना 'चलताऊ' नहीं बल्कि 'ठोस' काम की श्रेणी में ही गिना जायेगा। इसलिए भी डॉ0 रामदरश मिश्र की गजलों पर अलग से चिन्तन किया जाना

चाहिए। डॉ0 मिश्र के लेखन में प्रेम, प्रकृति, गाँव, घर, परिवार, समाज, मूल्य, संस्कार, जीवन से जुड़ी तमाम बातें प्रमुखता से सामने आती हैं फिर चाहे कविता हो, कहानी हो, उपन्यास हो, डायरी हो या अन्यान्य विद्याएँ... यही वजह है कि उनकी गजलें भी इस सबसे अछूती नहीं हैं। वे गजल की बनी-बनाई परिभाषा के ढर्रे में कैद होकर लिखना पसंद नहीं करते। वे अपने मूल स्वभाव में बसी सहजता और स्वच्छन्दता के बल पर ही गजलों में आगे बढ़े हैं।

जहाँ तक 'उर्दू-गजल' या 'हिन्दी-गजल' की बहस है, इसके पचड़े में न तो वे पड़े हैं और न ही पड़ना चाहते हैं। उनका साफ-साफ मानना है कि उनमें 'छंद' रचने का संस्कार है और उसी के माध्यम से वे 'बह्र' का निर्वाह करने की कोशिश करते हैं और काव्यगत रवानी बनाये रखते हैं। एक गजल संग्रह की भूमिका में उन्होंने लिखा है-'मैंने उर्दू छंद-शास्त्र का विधिवत अध्ययन नहीं किया है... गजल के पारम्परिक और नये स्वरूप पर चर्चा होती रहती है। गजल के नामर्थ रदीफ, काफिया, बहर, मक्ता, मतला आदि पर विमर्श चलता रहता है...मेरी अधिकांश गजलें गीत के रूप में आई हैं यानी कि उनमें एक ही केन्द्रीय सम्वेदना की यात्रा होती है, सारे शेर अलग-अलग बात न कहकर एक ही कथ्य के विविध आयामों की छवियाँ खोलते हैं। गजल यदि हिन्दी में आई है तो उसे हिन्दी के स्वरूप में भी ढलना चाहिए।'

डॉ0 मिश्र के वक्तव्य में आई इस बात को मैं बड़ी शिद्दत के साथ रेखांकित करना चाहता हूँ कि 'गजल यदि हिन्दी में आई है तो उसे हिन्दी के स्वरूप में ढलना चाहिए'। यह बात इसलिए भी अहम् हो जाती है कि गजल के बारे में कहा जाता है कि गजल 'लिखी' नहीं 'कही' जाती है। अब क्योंकि गजल 'कही' जाती है तो जिस भाषा में वह कही जाती है उसी भाषा का 'उच्चारण-नियम' भी लागू होना चाहिए। अब कुछ विशेष शब्दों का हिन्दीकरण हो चुका है, यथा-शह्र (ऽ।) को हिन्दी में शहर (।ऽ), जह्र (ऽ।) को जहर (।ऽ), गद्र (ऽ।) को गदर (।ऽ), कुरआन (ऽऽ।) को कुरान (।ऽ।), किलंआ (ऽऽ) को किला (।ऽ) ही बोला जाता है, तो 'बोली' या 'कही' जाने वाली विद्या में हम उसी भाषा का उच्चारण 'जिसका मानकीकरण हो चुका है' अपनाएँ तो किसी को दिक्कत क्यों होनी चाहिए? यह वही बात है जिस प्रकार हिन्दी का 'ब्राह्मण' अगर उर्दू में 'बिरहमन' उच्चरित होता है और उर्दू गजलों में भी उसी भाषायी-नियम से 'बिरहमन' के वजन से ही अपनाया जाता है तो हमें क्यों आपत्ति होनी चाहिए? तो डॉ0 रामदरश मिश्र ने जो बात कही है कि 'गजल यदि हिन्दी में आई है तो उसे हिन्दी के स्वरूप में भी ढलना चाहिए'... मैं इस वक्तव्य को और अधिक सख्ती से लागू होता देखना चाहूँगा और इस वक्तव्य में आए 'भी' के स्थान पर 'ही' लिखना पसंद करूँगा। इसी प्रकार केवल हिन्दी में ही नहीं गजलें तो सिंधी, पंजाबी, गुजराती और यहाँ तक की अंग्रेजी में भी कही जाने लगी हैं... तो जिस भाषा में गजल कही जा रही है उस भाषा का 'तेवर', 'कलेवर' और 'लेवर' भी उसमें आना ही चाहिए। इस विषय में एक खुली और व्यापक बहस की दरकार है।

मैंने प्रारम्भ में कहा था कि डॉ0 रामदरश मिश्र की गजलें 'मुसलसल-गजलों' की श्रेणी में आती हैं। यह बात डॉ0 मिश्र के वक्तव्य से भी जाहिर होती है। मुसलसल अर्थात लगातार एक ही भाव का विस्तार... जैसा कि हम गीतों में देखते हैं। यह नहीं कि एक शेर 'प्यार' पर, एक 'राजनीति' पर, एक 'सामाजिक विसंगति' पर तो एक 'आध्यात्म' पर ..। हालांकि उर्दू छंद-शास्त्र में तो इसी प्रकार की गजलों को ही ज्यादा 'महिमा-मण्डित' किया जाता है और इसे एक 'अनोखे-हुनर' के रूप में देखा जाता है। लेकिन मैं मानता हूँ कि 'मुसलसल-गजलों' को गजल-साहित्य में हिन्दी के एक बहुत बड़े अवदान के रूप में देखा जाना चाहिए। हिन्दी के अधिकांश कवियों को झुकाव इसी प्रकार की गजलों की ओर हुआ तोयह बात गजल-क्षेत्र में एक क्रान्तिकार-परिवर्तन के रूप में देखी जायेगी। हिन्दी कवि स्वभावत: इस कला में अपेक्षाकृत अधिक प्रवीण भी होते हैं। क्योंकि 'गीत' हिन्दी-साहित्य का प्राण-तत्व है और ताकतवर-विद्या है-यह गजल से जुड़ती है तो गजल को यकीनन और ज्यादा वैविध्य और धार प्रदान करेगी।

डॉ0 रामदरश मिश्र की 'सिगनेचर-गजल' है- 'बनाया है मैंने ये घर धीरे-धीरे। इस गजल की 'भावात्मकता' हिन्दी-गजल में 'मील का पत्थर' साबित हुई है। इसका एक से बढ़कर एक शेर इसे असाधारण-गजल की श्रेणी में रख देता है। बानगी देखें-

''बनाया है मैंने ये घर धीरे-धीरे/खुले मेरे ख्वाबों के पर धीरे-धीरे
किसी को गिराया न खुद को उछाला/कहा जिन्दगी का सफर धीरे-धीरे
जहाँ आप पहुँचे छलाँगें लगाकर/वहाँ मैं भी पहुँचा मगर धीरे-धीरे''

इसी प्रकार एक से एक लाजवाब शेर इस गजल को बेहतरीन बनाते हैं। 'जहाँ आप पहुँचे....' वाले शेर में तो 'कछुए और खरगोश' की पूरी कथा का निचोड़ बड़ी ही 'खुद्दारी के साथ सामने आया है और सभी को 'चाहे वे ऐसे हों या न हों' ऐसा बनने और कहने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार यह शेर केवल 'रामदरश मिश्र' का नहीं बल्कि पूरे समाज का हो जाता है-'स्व' से होता है हुआ, 'सर्व' तक पहुँचता है। यह शेर पिछले वर्षों में जितना उद्धृत हुआ है, उतना शायद ही हिन्दी-गजल का कोई और शेर हुआ होगा। डॉ0 मिश्र की एक और गजल के चंद शेर देखें-

''वह न मंदिर में, न मस्जिद में, न गुरूद्वारे में है
वह पराई पीर वाली आँख के तारे में है
खोजते हो तुम शिकारी को कहाँ जंगल के बीच
वह तो पोशीदा कहीं भीतर के अँधयारे में है
मैंने तो किस्सा सुनाया था किसी शैतान का
आपको क्यों शक हुआ, वह आपके बारे में है''

कहीं कोई बड़बोलापन नहीं, कहीं कोई चमत्कार नहीं, कहीं कोई हाय-हल्ला नहीं, लेकिन एक बात है जो बड़ी ही सहजता से, हौले से, गुपचुप-गुपचुप आपको पकड़ती है, आपके हाथों में

हाथ डालकर आपके साथ हो लेती है... आपको स्पंदित करती है, झंकृत करती है, आनन्दित करती है और आपके जेह्न को उद्वेलित करती है, हैरान करती है और आप पहले जैसे नहीं रहते... यही इन गजलों की ताकत है। यही ताकत गजल को चाहिए.... तभी हिन्दी-गजल को एक पहचान मिलेगी.....और गजल ऐसी नयी-नयी पहचानों और ताकतों से समृद्ध होती हुई पूर्णता और सार्थकता को प्राप्त होगी।

डॉ0 रामदरश मिश्र का कवि बहुत 'विराट' है। ऊँचा भी... गहरा भी... दसों दिशाओं तक फैला... ...सबको समेटता ...सबमें सिमटता...आत्मसात करता भी...आत्मसात हो भी। मेरी बात के साक्षी हैं उनके ये कुछ शेर-

था पढ़ाया माँज कर बर्तन घरों में रात-दिन
हो गया बुधिाया का बेटा पास तो अच्छा लगा

एक लम्बा रास्ता पीछे पड़ा है
उस पे मेरा ही निशां है, और मैं हूँ

आँखों के वास्ते तो सफर क्या हसीन था
गुजरी है क्या-क्या राह में, पाँवों से पूछिए

कौन-सी है धूप इस माया नगर में दोस्तों
हम तो छोटे हो गए, परछाइयाँ बढ़ती गईं

उन्हें जिद है निकालेंगे उसे अपने समय में से
उसे जिद है कि लो देखो ये दीवाना नहीं जाता

शहर से लौट आया हूँ लिए खूशबू पुरानी मैं
मगर घर है कहाँ मेरा ये पहचाना नहीं जाता

रंग सबके प्यार का तो एक ही है
क्या हुआ-मैं राम, तू अब्दुलगनी है

अंत में इतना ही कहना चाहूँगा कि डॉ0 रामदरश मिश्र जिस आस्था और जिस शिद्दत के साथ हिन्दी-गजल से जुड़े हैं उतनी ही शोहरत और उतनी ही दरियादिली के के साथ हिन्दी-गजल उन्हें अपनी दुआओं से नवाजेगी। उनके जिक्र के बिना हिन्दी-गजल का इतिहास अधूरा रहेगा।

✧ ✧ ✧

निवास : ए–5 मनसा राम पार्क, सण्डे बाजार रोड, उत्तम नगर, नई दिल्ली – 110059

आलेख

# डॉ. रामदरश मिश्र की समीक्षा दृष्टि

## संदर्भ : कविता

डॉ. रामदेव शुक्ल

**'हिन्दी उपन्यास एक अर्न्तयात्रा' एवं हिन्दी कहानी: अंतरग पहचान। हिन्दी कविता के आलोचना से संबंधित इनकी विशिष्ट पुस्तकें हैं- 'छायावाद रचना-लोक' और 'हिन्दी कविता : तीन दशक'। हिन्दी कविता तीन दशक कुछ नयी सामग्रियों के साथ फिर 'हिन्दी कविता : आधुनिक आयाम' नाम से प्रकाशित हुई। 'आधुनिक हिन्दी कविता आधुनिक आयाम', मिश्र जी के काव्यालोचन संबंधी कुछ चुने हुए निबंधों का संग्रह है। इसके आधार पर उनकी काव्य समीक्षा दृष्टि की पहचान की जा सकती है।**

डॉ. रामदरश मिश्र अपने को मूलत: सर्जक मानते हैं किन्तु उन्होंने आलोचना के क्षेत्र में भी महत्वपूर्ण लेखन किया है। इनकी आलोचना भी सर्जनात्मकता लिए हुए है। इनकी आलोचना नाटक को छोड़कर हिन्दी साहित्य की प्राय: सभी प्रमुख विधाओं की प्रवृतियों और कृतियों की पहचान करती हैं। वह अपनी शक्ति भर साहित्य की सही समझ उभारती हैं। न वह विचारों और शब्दों के जाल में उलझती है न उलझाती है, वह निर्भिक भाव से प्रवृतियों और कृतियों से टकराती है और उनके तथा पाठक के बीच पुल बनना चाहती है।

हिन्दी आलोचना पर तो मिश्र जी का शोध प्रबंध, है ही जो हिन्दी आलोचना का इतिहास नाम से छपा था और बाद में कुछ नयी सामग्रियों के साथ 'हिन्दी समीक्षा स्वरूप और संदर्भ' नाम से प्रकाशित हुआ। 'ऐतिहासिक उपन्यास और वृन्दावन लाल वर्मा उनका एम0ए0 का एक लघु शोध-प्रबंध है। साहित्य : संदर्भ और मूल्य उनके प्रसिद्ध समीक्षात्मक निबंधों का संग्रह है। कथा-साहित्य पर इनकी दो महत्वपूर्ण समीक्षा पुस्तके हैं-'हिन्दी उपन्यास एक अर्न्तयात्रा' एवं हिन्दी कहानी: अंतरग पहचान। हिन्दी कविता के आलोचना से संबंधित इनकी विशिष्ट पुस्तकें हैं-

'छायावाद रचना-लोक' और 'हिन्दी कविता : तीन दशक'। हिन्दी कविता तीन दशक कुछ नयी सामग्रियों के साथ फिर 'हिन्दी कविता : आधुनिक आयाम' नाम से प्रकाशित हुई। 'आधुनिक हिन्दी कविता आधुनिक आयाम', मिश्र जी के काव्यालोचन संबंधी कुछ चुने हुए निबंधों का संग्रह है। इसके आधार पर उनकी काव्य समीक्षा दृष्टि की पहचान की जा सकती है।

कहानी, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना आत्मकथा, कविता और गेय गीतों के प्रसिद्ध रचनाकार रामदरश मिश्र के चिन्तन से हिन्दी जगत् परिचित है। उनकी अपनी जीवन-दृष्टि और साहित्य-दृष्टि है जो परम्परा के जीवन्त उपकरणों से अनुप्राणित है और आधुनिकता के प्रत्येक आयाम से सुपरिचित भी। समय-समय पर कविता के संबंध में लिखे गये उनके निबंधों का नया संग्रह है, 'आधुनिक हिन्दी कविता के संबंध में लिखे गये उनके निबंधों का नया संग्रह है, 'आधुनिक हिन्दी कविता: सर्जनात्मक सन्दर्भ। हिन्दी समालोचना को अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज देने वाले लेखक डॉ0 रामविलास शर्मा को समर्पित इस संग्रह को अठारह निबंध लोक-संस्कृति से लेकर आज की कविता और उसपर उभरती बहत तक फैले हैं। लोक-संस्कृति और साहित्य के मर्म-सम्बन्ध की पहचान, के साथ रामचरित मानस की प्रासंगिकता, और छायावाद पर अनेक निबंधों के साथ लेखक के विचार केन्द्र में नयी कविता, आज की कविता और दोनों पर उठने वाले सवाल रहे हैं। 'हुंकार' के साथ नयी दिशाओं के खुलने और हिन्दी कविता में लक्षित होने वाले मोड़ का संकेत करके आधुनिक युग की उल्लेखनीय कृतियों पर स्वतंत्र निबंध लिखे गये हैं। लेखक की अर्न्तदृष्टि, विश्लेषणक्षमता और जीवन की धड़कनों से साहित्य को जोड़ने की उसकी चिन्ता से ये निबंध उपजे हैं। देशकाल के विस्तीर्ण फलक पर अपने अनुभवों को जाँचने परखने के जितने अवसर डॉ0 रामदरश मिश्र को मिले हैं, उतने कम लेखकों को मिल पाते हैं। धुर देहात से लेकर महानगरों और हिन्दी प्रदेश से लेकर अन्य भाषा क्षेत्रों तक के सक्रिय जीवन ने उनके चिन्तन से हर तरह की संकीर्णता को निकाल बाहर किया है। इन निबंधों में समकालीन रचना और उसकी सर्जनात्मकता की परख सुलझे दिमाग से की गयी है।

आधुनिक बोध और साहित्य में उसकी महत्ता पर सोचते हुए, उसके प्रत्येक कोण की पहचान करते हुए आधुनिकता की शक्ति और सीमाओं को स्वीकार करते हुए पहला निबंध एक मीठी चुटकी के साथ समाप्त होता है-'और कई बार तो आधुनिक बोध वह होता है जिसे आलोचक आधुनिक बोध समझ लेता है और उसका वह बोध वह होता है जिसे आलोचक आधुनिक बोध समझ लेता है और उसका वह बोध आलोच्य कवियों के साथ उसके संबंधों के आधार पर बदलता रहता है।' आधुनिक हिन्दी साहित्य में आधुनिकता की परख करते हुए मिश्र जी भारतेन्दु युग से लेकर अब तक के साहित्य पर-उसकी आधुनिकता और मूल्य-दृष्टि पर निगाह दौड़ाते हैं। आधुनिकता को मूल्य और नियति दोनों मानते हुए वे दिखाते हैं कि कहाँ आधुनिकता सतह पर रही है, कहाँ मूल्य की स्वीकृति है, कहाँ नियति थी। आज के लेखन में मूल्यहीनता का

रोना रोने वाले बहुत लोग हैं। मिश्र जी समाज की जटिल संरचना और उसपर वैज्ञानिक युग के अनिवार्य दबावों का विश्लेषण करते हुए 'मूल्य मूढता' के रूप में उस तत्व की पहचान करते हैं जो लेखन ही नहीं पूरे जीवन में व्याप्त हो गया है। नये कवि की मूल्यचिन्ता को रेखांकित करते हुए वे कहते हैं, 'मूल्य सत्य के भीतर से उगा हुआ जीवित दायित्व बोधा है, ऊपर से आरोपित कोई फार्मूला नहीं और उसे नया कवि अपनी पीड़ा अपने विवेक और अपनी चेतना के द्वारा ही खोजना चाहता है।'

'कविता में अनुभूति और विचार' में अनुभव के साथ विचार की सह-यात्रा और अनुभव के अनुभूति बनने की प्रक्रिया पर स्पष्ट विचार हुआ है। अनुभवों में से सार्थक और प्रामाणिक अनुभव को चुनकर काव्यानुभूति बनाने में कवि की सहायक होती है वैचारिक दृष्टि। यह दृष्टि पारम्परिक भी होती है और युगीन भी। मिश्र जी विचार को व्यक्तिगत अनुभव की निर्मिति में भी सहायक बताते हैं। वैसे ही अनुभव और विचारों की साझेदारी सदा से रही है। मिश्र जी स्पष्ट कहते हैं कि आज यह साझेदारी जितनी प्रत्यक्ष दिखती है, उतनी इससे पहले न थी। आधुनिक युग की अनेक चर्चित कविताओं को सामने रखकर मिश्र जी प्रमाणित करते हैं कि विचार जब कविता के केन्द्र में आता है तो कविता मर जाती है। विचार बिम्ब और अनुभव-बिम्ब का सूक्ष्म अन्तर बताते हुए लेखक 'असाध्य वीणा' और 'अंधेरे में' की तुलना करते हुए अपनी बात स्पष्ट करते हैं।

'कविता और कविता के आसपास' में आचार्य शुक्ल और फिराक की उक्तियों के साथ कविता को परिभाषित करते हुए सभ्यता के आवरण के घना होने पर कविता की आवश्यकता के बढ़ने के यथार्थ तक पहुँचाते हैं। वही लक्ष्य करते हैं कि कविकर्म कठिनतर होता गया है। 'तारसप्तक' से अब तक की कविताओं का अंतरंग विश्लेषण यहाँ हुआ है। इतर तत्वों से कविता को अच्छन्न करने वाले कवियों ने किस तरह अपनी रूमानी संवेदना को जटिल बौद्धिकता आरोपित करके आधुनिक बनाया, इसकी जाँच करते हुए भाषा-विश्लेषण के आधार पर सिद्ध किया गया है कि अज्ञेय की कविताओं पर संवेदना का नहीं, तर्क का शासन रहा है। उनकी उन कविताओं का अलग उल्लेख है जिनमें मन्द-मन्द दीप्ति और अनुभूति की आद्योपान्त अखण्डता है। मुक्तिबोध 'तारसप्तक' में शरीक होकर भी सामयिक और कवितेतर साधनों से अपनी कविता को गौरवान्वित करने की होड़ में शरीक न हुए। फल हुआ उस समय उपेक्षित रह जाना। अनुभव की समृद्धि से अन्ततः आधुनिक कविता के केन्द्र में उन्हें प्रतिष्ठा मिली। गिरिजाकुमार माथुर, शमशेरबहादुर सिंह, भवानीप्रसाद मिश्र और धर्मवीर भारती की कविताओं की शक्ति और सीमाओं की विश्वनीय पहचान करायी गयी है। कविता और कविता के आसपास के सिमटते अन्तर को रेखांकित किया गया है। तीन कटघरे संकेतित हैं-जल्दी-जल्दी बदलने वाली पीढ़ियां, विषय-वस्तु का संकोच और भाषा-शिल्प की एकरूपता। आचार्य शुक्ल ने छायावाद पर वस्तुसंकोच का उचित आरोप लगाया था। डॉ0 मिश्र की टिप्पणी है-'आज की कविता व्यापक जीवन की यात्रा की दावा करती हुई भी अपने लिए जीवन के कुछ विषयों को ही लेकर चल रही है। लगता है जैसे सभी लोग मिलकर एक

ही कविता लिख रहे हैं।' डॉ0 रामदरश मिश्र की यह टिप्पणी इतिहास में अंकित होगी।

'कविता और कविता' कम शब्दों में लेकिन अचूक दृष्टि से नयी कविता और आज की कविता की विशेषताओं को अलग-अलग पहचानता है। दोनों की शक्ति और सीमाओं की पहचान के साथ आलोचना के जार्गन्स की ओर स्पष्ट इशारा किया गया है। आज की कविता से जुड़े कुछ अन्य आवश्यक सन्दर्भ लिए गये हैं, 'संक्रान्ति कालीन बोध और नये नारों की सार्थकता' में। छटपटाहट की तीव्रता और वैविध्य का एहसास आज की कविता में सर्वाधिक है। आज की कविता की परस्पर विच्छिन्न धाराओं के मूल में सामाजिक सम्बन्धों की विच्छिन्नता व्यक्तिमन में अनुलाहट और मूल्य-मूढ़ता ही है। किसी बने-बनाये समाधान को नकारने वाली नयी कविता अनुभव की प्रामाणिकता और अद्वितीयता पर जोर देने के कारण ही अनुभव के वैविध्य और वैशिष्ट्य से पूर्ण है। डॉ0 मिश्र परिवेशजन्य यातना के भोग और उस भोग के बीच से उभरते विद्रोह के आधार पर नये कवियों को दो वर्गों में रखते हैं। मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन आदि की कविताओं में विद्रोह की आँच, अनुभव-संस्कार और चिन्ताओं का अनिवार्य अंग बनकर फूटती है, इसलिए प्रगतिवादियों का सा ख्याली आक्रोश नहीं उगलती। ठीक इसी तरह डॉ0 मिश्र आज की कविता में भी दो धाराएँ देखते हैं-तटस्थ रहने का दावा करने वाली धारा और नाराजगी से भरी हुई दूसरी धारा। दूसरी में भी दो वर्ग हैं- एक की नाराजगी का कारण अलक्ष्य और अमूर्त है, दूसरे की नाराजगी का सन्दर्भ सामाजिक है। लेखक स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं कि आज के बोध की बात करते समय राजनीति और सामाजिक सम्बन्धों से असंपृक्त नहीं रहा जा सकता।

समकालीन कविता की एक प्रमुख चिन्ता 'काव्य में प्रेषणीयता की समस्या' है। 'पाठक के भीतर हांट करने की कविता की शक्ति की चर्चा करते हुए मिश्र जी बताते हैं। कि हांट करने के लिए कविता का पाठक तक पहुँचना अनिवार्य है। काव्य में प्रेषणीयता के संकट पर बात तभी होती है जब कवि सामूहिक रूप में उलझी हुई संवेदना और दुरूह अभिव्यक्ति-पद्धति के नाते अप्रेषणीय बनने लगते हैं। आधुनिक हिन्दी कविता-यात्र पर दृष्टिपात करते हुए मिश्र जी बताते हैं कि छायावाद के समय वह प्रश्न उठा था। उसके बाद प्रयोगवाद से आज तक उठता रहा है। अज्ञेय ने प्रेषणीयता के संकट को रचनात्मक स्तर पर लिया किन्तु अधिकांश कवि नासमझी का दोष पाठक के सिर मढ़कर छुट्टी पा लेते हैं। सैद्धान्तिक स्तर पर प्रेषणीयता की समस्या को लेकर डॉ0 मिश्र कविता वर्ण्य और रचना-प्रक्रिया से होते हुए पाठक तक पहुँचते हैं। रचना अपने समय की मानसिकता और नयी रचना प्रक्रिया से जुड़ी होती है। संस्कारी शिल्प और परम्परागत मानसिकता के पाठक और इसी नयेपन के बीच प्रेषणीयता का संकट पैदा होता है। 'माडर्न क्रिटिसिज्य' की भूमिका में डारविन ही संस्कृति-विकास के कुछ मोड़ों पर लेखक द्वारा पाठक के तिरस्कार की बात करते हैं। बेचैनी और उद्विग्नता के मोड़ों पर यह तिरस्कार स्पष्ट पहचान में आता है। गहरी नैतिक और मनोवैज्ञानिक आवश्यकता के दबाव से ऐसा होता है। इसी बिन्दु पर आलोचक की जिम्मेदारी बढ़ जाती है। समर्थ समीक्षक इस संकट को कम कर सकता है। हिन्दी कविता में यह संकट कवि और समीक्षक दोनों

की देन है। प्रेषणीयता का संकट सर्जनात्मकता के भीतर से पैदा होता है। कवि के अनुभव के स्थान पर उभरे छद्म के कारण यह संकट अधिक व्यापक होता है। बौद्धिकता स्वप्न और संगीत की अतिनिकटता की प्रवृति भी कविता में अप्रेषणीयता लाती है। कविता की भाषा को 'वस्तु' मान लेने से भी प्रेषणीयता बाधित हुई। इन वास्तविक कठिनाईयों के अतिरिक्त समकालीन कविता की सीमाओं की ओर अर्थपूर्ण संकेत करके मिश्र जी समस्या का दूसरा पक्ष भी रख देते हैं।

छायावादी कविता की जड़ों को विदेश में मानने वाले कुछ लोग अब भी बचे हैं। उसी तरह नयी कविता की जड़ों की तलाश विदेशों में करने वालों की भी कमी नहीं है। इन निबन्धों में छायावादी कविता में कल्पना की विविध छवियों और उस काव्य की प्रगतिशील चेतना की पहचान बहुत सावधानी के साथ की गयी है। 'नयी कविता में नयी कविता के संबंध में अमूर्त लफाजी से बचकर मिश्र जी न सिर्फ उसकी पहचान करते हैं, उसकी परीक्षा करते हैं, बल्कि छायावादी कविता के साथ-साथ उस पर दृष्टिपात करते हुए दोनों अन्तर्सम्बन्ध का संकेत सहज ही जो जाता है। दोनों प्रकार की कविताओं की सामाजिक सांस्कृतिक चेतना की पहचान के साथ दोनों पर शहरी प्रभावों का भी स्पष्ट निदर्शन हुआ है।

'नये प्रबन्ध काव्य में 'उर्वशी' 'कनुप्रिया', 'विष्णु-प्रिया', 'जयभारत', 'द्रौपदी', 'महामानव', 'उत्तरजय', 'आत्मजयी' 'एक पुरूष', और- इन आधुनिक प्रबन्ध काव्यों का संक्षिप्त किन्तु गम्भीर अध्ययन किया गया है। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और 'दिनकर' के व्यक्तित्व-कृतित्व पर दो अलग-अलग निबन्ध- दोनों कवियों की रचनात्मकताओं की सन्तुलित पहचान कराते हैं। 'कुरूक्षेत्र', 'संशय की एक रात' और 'अंधायुग' पर 'कुछ युद्ध काव्य' में विचार किया गया है। पौराणिक सन्दर्भों पर आधारित ये काव्य आज के मनुष्य की चिन्ता, युयुत्सा और जिजीविषा को किस रूप में व्यक्त करते हैं, यह जानने के लिए उपर्युक्त समीक्षा सहायक है। 'दो लम्बी कविताओं', में 'असाध्यवीणा' और 'अँधेरे में' का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। अज्ञेय और मुक्तिबोध की मानसिकता की जाँच इन दोनों कविताओं के बहाने कर ली गयी है। उपर्युक्त निबन्ध डॉ0 रामदरश मिश्र की व्यावहारिक समीक्षा के बहुत अच्छे नमूने हैं।

डॉ0 रामदरश मिश्र की यह पुस्तक आधुनिक काव्य की समझ बढ़ाने में सहायक है और बहस के मुद्दे उभारने में भी। समकालीन कविता और उसकी समालोचना के सूत्र इन निबन्धों में उभरते, सुलझते हैं, अनेक पुस्तकों की तरह उलझते नहीं है। साहित्य-समालोचना की पर्चेबाजी तक पहुँचाने के आंकाक्षी कुछ मौसमी लेखक किंचित व्यंग्य के साथ 'प्राध्यापकीय आलोचना' का नाम लेते हैं। यह दूसरी बात है कि ऐसे विद्वानों के समालोचना 'और भी कई नाम उसे दिये जाते हैं' के लटके कुछ ही महीनों में पुराने पड़ जाते हैं।

✧ ✧ ✧

शीतल सुयश, शप्ती चौराहा, आरोग्य मन्दिर, गोरखपुर–273009

# रामदरश मिश्र का संस्मरण-साहित्य

डॉ. सुनिल विक्रम सिंह

**''मेरी सारस्वत जीवन यात्रा में कुछ ऐसे गुरू 'साहित्यकार और मित्र मिले, जिनका संक्षिप्त या दीर्घा साहचर्य मेरे जीवन मे अपने उजास की अमिट छाप छोड़ गया। सभी बारी-बारी इस संसार से विदा हो गये, लेकिन मेरे भीतर जैसे के तैसे बने हुए हैं। सुदूर अतीत की बातें लगती हैं जैसे कल की हो। मेरे होने में उनका होना न जाने कितने रंगों और**

डॉ. रामदरश मिश्र हिन्दी साहित्य के वरिष्ठतम रचनाकार हैं। उनका बहुआयामी लेखन हमें विस्मित करता है। आपने कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा, संस्मरण, यात्रा वृतान्त, डायरी इत्यादी विधाओं में उल्लेखनीय सृजन किया है। कथेत्तर गद्य की विधाओं जैसे आत्मकथा, संस्मरण और यात्रावृतान्त एक दूसरे का स्पर्श करती है और कहीं-कहीं उनको अलग करना मुश्किल हो जाता है। रामदरश मिश्र जी के कथेतर गद्य में ये बात दिखलाई देती है। रामदरश मिश्र की संस्मरण पुस्तकें हैं-'स्मृतियों के छन्द 'अपने अपने रास्ते', 'एक दुनिया अपनी'। 'स्मृतियो के छन्द' '1995' में रामदरश मिश्र ने उन लोगों को याद किया है जो उनकी सारस्वत जीवन यात्रा में अपनी छाप छोड़ गये। मिश्र जी ने इस पुस्तक की भूमिका में लिखा है-''मेरी सारस्वत जीवन यात्रा में कुछ ऐसे गुरू 'साहित्यकार और मित्र मिले, जिनका संक्षिप्त या दीर्घा साहचर्य मेरे जीवन मे अपने उजास की अमिट छाप छोड़ गया। सभी बारी-बारी इस संसार से विदा हो गये, लेकिन मेरे भीतर जैसे के तैसे बने हुए हैं। सुदूर अतीत की बातें लगती हैं जैसे कल की हो। मेरे होने में उनका होना न जाने कितने रंगों और स्तरो में व्याप्त है। मैनें 'स्मृतियों के छन्द' में इन्हीं व्यक्तित्वो की कुछ

रेखाओं को पकड़ने का प्रयत्न किया है। 'इन संस्मरणो में रामदरश मिश्र ने हजारी प्रसाद द्विवेदी, उमाशंकर जोशी, ठाकुर प्रसाद सिंह, भवानी प्रसाद मिश्र, गिरिजा कुमार माथुर, देवीशंकर अवस्थी और सावित्री सिन्हा जैसे साहित्यकारों को स्मरण किया हैं। इसके अतिरिक्त मिश्र जी ने अपने गुरूओं को भी अन संस्मरणों मे बड़ी शिद्दत से याद किया है। स्मृतियाँ हमें बेचैन कर देती हैं लेकिन वे हमे एक बेहतर इन्सान भी बनाती हैं। वस्तुतः हम स्मृतिजीवी हैं। बिना स्मृतियों के हम आख्यान नहीं रच सकते। स्मृतियों में रूप, रस और गन्ध होता है। स्मृतियों में लय होती है, छन्द होता है। 'जलता हुआ प्रश्न' में मिश्र जी प्राथमिक कक्षा के अपने अध्यापक बिकाऊ पंडित को याद किया है। 'बकौल रामदरश मिश्र' बिकाऊ पंडित अपने आप में जो थे सो थे लेकिन देश और समाज के सामने एक प्रश्न भी थे। आज जब प्राथमिक और मिडिल स्कूल के अधयापकों में न तो अध्यापन के प्रति निष्ठा है और न ज्ञान की ललक, उस स्थिति मे बिकाऊ पंडित प्रेरणास्त्रोत के रूप मे दिखलाई देते हैं।

यश की इच्छा कौन नही करता ? आचार्य मम्मट काव्य- प्रयोजन में यश को सबसे ऊपर रखते हैं लेकिन कुछ कवि ऐसे होते हैं जो न यश की इच्छा रखते हैं और न धन की। मदनेश जी भी वैसे ही कवियों में थे। रामदरश मिश्र ने अपने संस्मरण में साहित्य के इस मौन साधक को बड़ी आत्मीयता से याद किया है। गणेश दत्त मिश्र 'मदनेश' का पूरा जीवन साहित्य को समर्पित था लेकिन साहित्य की दुनिया की दुनिया की गुटबाजी और तिकड़म से वे कोसों दुर थे।

ठाकुर प्रसाद सिंह एक जिन्दादिल इन्सान और श्रेष्ठ गीतकार थे। इन पंक्तियों के लेखक ने ठाकुर प्रसाद सिंह के जिन्दादिल और आत्मीय व्यक्तित्व को देखा 'जब मैने उनसे विदा ली तो उन्होने कहा- 'काशी में आपका स्वागत है।'

'दर्द की हॅसी' शीर्षक संस्मरण में मिश्र जी ने 'वंशी और मादल' जैसी कालजयी कृति के रचनाकार ठाकुर प्रसाद सिंह की जिन्दादिली और उन्मुक्त व्यक्तित्व को रेखांकित किया है। ठाकुर प्रसाद सिंह का व्यक्तित्व उन प्रगतिशील लेखको के मुँह पर तमाचा है जो अपनी अपढ़ पत्नियों को परदे के पीछे छिपाये रहते हैं और हीन भावना से ग्रस्त रहते है। ठाकुर प्रसाद सिंह के न रहने पर मिश्र जी को लगता है- 'ठाकुर चले गये। बनारस की एक गतिमान जीवन्तता चली गई, उसकी वह हॅसी चली गई जो गहरे दर्द के भीतर से पैदा होती है और दूसरों के ओठों पर बिखर जाती है।'

'सर्जना ही बडा सत्य है' संस्मरण मे मिश्र जी ने अपने गुरू आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी को स्मरण किया है। द्विवेदी जी का व्यक्तित्व पाण्डित्य और सहदयता से समन्वित था। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अक्सर कहा करते थे-'सर्जना ही सत्य है।' यह देश का दुर्भाग्य है कि तमाम मीडियाकार लोग भारत के विश्वविद्यालयों में प्रोफेसर बनते रहे हैं। जबकि अचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे मनिषी को अपने आपको सर्व विद्या की राजधानी कहने वाले विश्वविद्यालय ने निकाल दिया। मिश्र जी का मानना है कि बनारस में हजारी प्रसाद द्विवेदी का बहुत विरोध हुआ लेकिन

उन्होने उस विरोध को बड़ी सहजता से किया। रामदरश मिश्र ने लिखा है-'इतनी बडी सहनशीलता, विष पचाने की इतनी शक्ति, प्यार और सहानुभूति की उष्मा से भरे व्यक्तित्व की शक्ति भीतर होती है, वह व्यक्तित्व गहरे संस्कार से बना होता है, बाहरी नाटकीयता से नही।'

रामदरश मिश्र ने इस संस्मरण में हजारी प्रसाद द्विवेदी के साहित्य मे आधुनिक दृष्टि का भी मूल्यांकन किया है। मिश्र जी ने 'वाण भट की आत्मकथा', 'पुनर्नवा 'अनामदास का पोथा और 'चारू चन्द्र लेख' के नारी पात्रों के माध्यम से हजारी प्रसाद द्विवेदी की मानवतावादी दृष्टि का मूल्यांकन किया हैं।

'बहता पानी' संस्मरण में रामदरश मिश्र ने कवि भवानी प्रसाद मिश्र को याद किया है। भवानी प्रसाद मिश्र के व्यक्तित्व की सरलता और सहजता रामदरश को आत्मीयता के सूत्र में बाँधती है। भवानी प्रसाद मिश्र की कविताओं के सन्दर्भ में रामदरश जी ने लिखा है-'वैसे उनकी कविताएँ अपनी सहजता के कारण स्वत: पाठक से निकटता स्थापित कर लेती हैं किन्तु उनकी कविताओं का श्रोता होने का एक अलग ही आनन्द था।'

शमशेर बहादुर सिंह को रामदरश जी मुक्त मन का कवि मानते हैं। शमशेर पर संस्मरण लिखते हुए रामदरश जी शमशेर की कविताओं की संवेदना और रचना कौशल का भी मूल्यांकन करते हैं। बाहर से जटिल दिखने वाले शमशेर के व्यक्तित्व में भावुकता और तरलता थी। मिश्र जी लिखते हैं कि 'लौट आओ धार' लिखने वाला अब दुनिया मे नही हैं। उनका वश चलता तो वे चिल्लाकर कहते 'लौट आओ धार' 'लेकिन जानता हूँ कि धार लौटकर नहीं आती। इसलिए उसके द्वारा अपने भीतर छोड़ी गयी आद्रता, शीतलता, आत्मीयता और मानवीय ऊष्मा की अनुभूति लिए हुए उसके जाने की दिशा में देखता हुआ खडा हूँ।' डा रामदरश मिश्र की पुस्तक 'घर से घर तक' में एक संस्मरण ठाकुर प्रसाद सिंह पर है। इसका शीर्षक है- 'किससे मिलने आये हो'। इसे हम यात्रा संस्मरण भी कह सकते हैं। अज्ञेय में अपने यात्रा वृतान्तों को यात्रा संस्मरण कहा है। लेखक की यह काशी यात्रा अवसाद से बोझील थी। ठाकुर प्रसाद सिंह का हँसमुख और जिन्दादिल व्यक्तित्व रामदरश मिश्र के मानस पटल पर अंकित है। लेखक अपनी इस काशी-यात्रा में ठाकुर प्रसाद सिंह की कमी को बड़ी शिद्दत से महसूस करता हैं। ठाकुर प्रसाद सिंह के घर से बाहर निकलते हुए और ईश्वरगंगी की गलियों और सड़को से गुजरते हुए उनकी स्मृतियाँ बेचैन कर देती हैं। वह ठाकुर प्रसाद सिंह सुधियो के चन्दन वन में भटकने लगते हैं। रामदरश जी लिखते हैं-'ठाकुर सचमुच बनारस थे-मस्तमौला, बड़ों से अभयभीत, छोटों के कन्धों पर स्नेह का हाथ रखकर चलने वाली साथी, प्रतिभा की छोटी से छोटी चिनगारी को जगाने वाले प्रभाती पवन।'

डॉ रामदरश मिश्र ने संस्मरण साहित्य को एक नया आयाम दिया है, उसे लोकप्रियता की ऊचाइयो तक पहुँचाया है।

✧ ✧ ✧

एसोसियुट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, टी0डी0 कॉलेज, जौनपुर

आलेख

# रामदरश मिश्र की काव्य यात्रा

डॉ. सविता मिश्र

मुझे तो यह सूरज सोने नहीं देता, सोता हूँ तो सोते से उठाता है।
अँधकार में खोई राहों  की, खोज में भटकाता है।

रामदरश मिश्र के शब्दों में- 'यह सूर्य जाने-अनजाने मेरे भीतर सत्य और मूल्य का बिंब बनता चला गया जो रोशनी तो देता ही है, जलाता भी है, बेचैन भी करता है।'

जीवन भर मूल्यों के लिए संघर्षरत रहे हैं। वे समय से संवाद करते हुए, समय की विभीषिकाओं के प्रति चिंताग्रस्त हैं। उनकी दृष्टि प्रारम्भ से सामाजिक यथार्थ की टकराहटों को देखती, सुनती रही है। मार्क्सवादी दर्शन को अन्तर्दृष्टि के रूप में स्वीकारने के कारण उन्होंने सामाजिक यथार्थ के अन्तर्विरोधों को व्यक्त किया है पर स्वयं को कहीं बाँध नहीं है। उनकी कविताओं में समय का छलनी कर देने वाला रूप भी है और शुरु के सौन्दर्य बोधात्मक अनुभवों की छोटी-छोटी दीप्तियाँ भी हैं।

**मिश्र जी समकालीन कविता के सशक्त हस्ताक्षर हैं। अनुभूति केन्द्रितता उनकी कविता की सबसे बड़ी शक्ति और पहचान है। उनकी जीवनधर्मी और लोकधर्मी कविताओं में वस्तु और शिल्प का अद्वैत है। सहज संवेदना के कवि मिश्र जी आधुनिकता जीकर आकार देने में विश्वास रखते हैं, किन्तु वे अति आधुनिकता के समर्थक कभी नहीं रहे हैं।**

मिश्र जी की यात्रा गाँव से लेकर नगरों, महानगरों तक, स्वाधीनता प्राप्ति के लिए संघर्षरत मूल्यधर्मी समय से लेकर वर्तमान दूषित एवम् जटिल राजनीतिक परिदृश्य से युक्त समय तक जारी रही हैं बिना किसी वाद से जुड़े हुए मिश्रजी निरन्तर समय-सहचर रहे हैं और समय की आहटों एवम् दस्तकों से रूबरू होते रहे हैं। यही कारण है कि उनका हर नया संग्रह पूर्ववर्ती संग्रह से कुछ अलग वैशिष्ट्य लिए हुए समय की चेतना से पूर्णतः जुड़ा हुआ है। उनकी कविता-यात्रा के संदर्भ में ओम निश्चल के विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं- 'उनकी कविताओं में कलावादी भंगिमाओं और श्लिष्ट शाब्दिक उपस्थापनाओं से अलग एक सादा संसार किन्तु संरचना में प्रगीतात्मकता और भावात्मक प्रतिक्रियाओं को एक सघन स्थापत्य दिखाई पड़ता है।'

वस्तुत: मिश्रजी की जीवनधर्मी आवेगमयता भिन्न-भिन्न रूपों में अपना मुहावरा तलाश करती रही है। उनकी कविता का अपना मुहावरा है। उसमें सामाजिक हलचलें भी हैं, घर-परिवार, पास-पड़ोस व गली-मोहल्लों की हलचलें भी हैं। उनकी काव्य-यात्रा से गुजरते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने भाषा और शिल्प के पुराने संदर्भों की अक्षमता को पहचाना और एक नई और जीवित भाषा की तलाश की तथा उसी में बदलती हुई युग-संवेदना को मूर्त करने का प्रयास किया। उनकी भाषिक संरचना सृजनात्मक दबाव के फलस्वरूप आकार ग्रहण करती रही है। उनकी रचनात्मक ऊर्जा आम बोलचाल के शब्दों को ग्रहण करके बिंबों व प्रतीकों के माध्यम से कथ्य को सम्प्रेषित करती है।

मिश्र जी की अभिव्यंजना-सामर्थ्य पर विचार करते समय यह स्पष्ट हो जाता है कि सपाटबयानी से प्रारम्भ हुई उनकी कविताएँ अन्त में जाकर गहन अर्थवत्ता से दीप्त हो उठती हैं। समकालीन परिस्थिति का समग्र चित्र प्रस्तुत कर उसकी व्याख्या करते समय और बाद में अपना मन्तव्य प्रकट करते समय उन्होंने विश्लेषणात्मक पद्धति को अपनाया है। फैन्टेसी, क्लोजअप व लौंगशॉट पद्धतियों को भी उन्होंने वस्तु की माँग के अनुसार अपनाया है। कथात्मक एवम् नाटकीय पद्धति ने उनकी कविताओं को विशिष्ट अन्विति प्रदान की है। उनकी लम्बी कविताएँ उनके सृजनात्मक तनाव और संरचनात्मक संतुलन को व्यक्त करते हुए युगीन यथार्थ एवम् वैचारिक प्रखरता से परिचित कराती हैं। जहाँ तक उनकी लघु कविताओं की बात है तो उनकी लघु कविताओं की अपनी विशिष्ट कौंध है जो प्रतीकों व बिंबों द्वारा व्यक्त होती है।

मिश्र जी क'काव्य-यात्रा', 'पथ के गीत' से प्रारम्भ होकर अद्यतन जारी है। 'पथ के गीत' में प्रकृति विविध रूपों में हमारे सामने आती है। कहीं स्वतंत्र रूप में, कहीं उद्दीपन रूप में तो कहीं प्रतीकों और बिंबों के रूप में। कवि अपनी पीड़ा और वियोग को चित्रित करता है। कवि की आशावादिता 'चल रहा हूँ' और 'जिंदगी की राह पर' गीतों के माध्यम से व्यक्त होती है। आँधियों के वेग से लड़ता हुआ कवि दो पगों से युग की अमरता के नापने का साहस करता है।

'बैरंग बेनाम चिटि्ठयाँ' मिश्रजी का दूसरा काव्य-संग्रह है जो 'पथ के गीत' के प्रकाशन के ग्यारह वर्षों बाद प्रकाशित हुआ था। विजेंद्र के शब्दों में-'पथ के गीत' से लेकर 'बैरंग बेनाम चिटि्ठयाँ' तक विचारणीय अंतराल है। इस बीच उत्पन्न अनेक विचार प्रवाहों को आत्मसात करके भी मिश्र जी ने अपने आदि प्रेरणा स्रोत को संजीवित रखा और नयी काव्य-संभावनाएँ प्रस्तुत की। यह महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।'

'बैरंग बेनाम चिटि्ठयाँ' संग्रह की कविताओं से गुजरते हुए कुछ प्रमुख विशेषताएँ सामने आती हैं। जैसे अप्रगीतात्मक युग में गीतों के प्रति रूचि, लोक-संस्कृति का स्वस्थ और आकर्षक रूप, संवेदना की गहनता, पारदर्शी स्पष्टता, गतिशील समय का तीखा बोध, अकेलेपन की अनुभूति, प्रकृति-प्रेम आदि।

'तुम बिन', 'विदा के पहले', 'कब से', 'प्रतीक्षा', 'रात-रात भर मोरा पिंहँके', 'आते घिर-घिर', 'हवा', 'जलते हैं फूल', 'पके धान सी धूप', 'मायानगर', 'शरद आयी', 'फिर फागुन

आया', 'चैत आया है', 'बाट-बुहारूँ', 'बार-बार तुम आये', 'बदरवा रे', 'भीज गया', 'कभी-कभी', 'बादल घेर-घेर मत बरस', 'मधुपर्व', 'दूर ही दूर से बुलाता है', 'गाढ़े गये दिन बीत', 'बादरवा बरसे', 'तू भी चला गया', 'भरी-भरी गगरी छलक जाये रे' आदि गीतों को पढ़ने से जनपदीय लोक-संस्कृति का अत्यन्त स्वस्थ एवं आकर्षक रूप परिलक्षित होता है। इन गीतों के माध्यम से मिश्र जी की संवेदनात्मक दृष्टि का परिचय तो मिलता ही है, उनके जीवनानुभवों की गहराई से भी साक्षात्कार होता है। अधिकांश गीतों के माध्यम से विशुद्ध प्राकृतिक सौंदर्य-चित्रण, मन के उल्लास एवं अवसाद को कवि ने व्यक्त किया है तथा प्रेमजन्य अनुभूतियाँ भी प्रकृति-प्रधान गीतों के माध्यम से व्यक्त हुई है 'बादल घेर-घेर मत बरस' गीत का अंश उल्लेखनीय है-

रह-रह काँपे हिया हवा में, खुले खेत में धान
आँखों में परदेसी काँपे, रोम-रोम में बान
याद का बाँध उठा है टूट कि बिरहा के ये छन डूबे।

मिश्रजी के इस कविता-संग्रह में नितांत निजी अनुभूतियों के साथ व्यक्ति के केन्द्र से समाज, राष्ट्र और वैश्विक संवेदना की विस्तृत परिधि की ओर जाने का संकेत है। इस संदर्भ में मिश्र जी की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य है-

गुलमोहर से इस दिन की लाल आभाओं की परिधि / मेरी गोद में न अँट कर
फैलती गई, फैलती गई, चारों ओर/आज मैं केंद्र बिंदु हूँ इस परिधि का
यानी इकाई हूँ/ममता की व्यास रेखायें मुझे जोड़े हैं / क्षितिजों की ओर फैली हुई इस
परिधि से।

'नींव के पत्थर' कविता में कवि ने वर्गगत वैषम्य का अत्यन्त सजीव चित्रण किया है जिसमें 'सोने की निधियों के ऊपर कुंडली मारकर बैठने वालों की मानसिकता के चित्रण के साथ-साथ, अँधी गलियों व झोंपड़ियों में आवारा-कुत्तों सी सोयी हुई, गुमसुम आकृतियों' का भी चित्रण है। 'नींव के पत्थर', 'चिठियाँ, 'कालयात्री: 'निशान' आदि कुछ अत्यन्त सशक्त कविताएँ हैं जिनकी नींव पर मिश्रजी की कविता का प्रासाद खड़ा दिखाई देता है। संग्रह में कविता और गीत तथा अंतरंगता और सामाजिकता का मिश्रण देखकर प्रकाश मनु ने कहा है-

'बैरंग बेनाम चिठियाँ' की खासियत यह है कि वह उनकी कविता यात्रा का महत्त्वपूर्ण संधि स्थल है और गीत और कविता के अनोखे मेल के कारण इसका अध्ययन साहित्य के किसी पाठक को खासा दिलचस्प लग सकता है। इसीलिए कि इसे पढ़ना एक इतिहास को टटोलना है कि कैसे एक गीतकार खुद को कवि या कविताकार में बदल रहा है।

'पक गई है धूप' मिश्र जी का तीसरा काव्य-संग्रह है। इस संग्रह की कविताएँ तीन भागों में विभक्त हैं। पहले भाग में 'होने न होने' की अनुभूति की कविताएँ हैं। दूसरे खंड 'समय जल सा' में गीत और गीतात्मक संवेदना की कविताएँ हैं। संग्रह की भूमिका में स्वयं मिश्र जी ने स्पष्ट कर दिया है- 'मैंने अपनी इन कविताओं में अपने परिवेश को जीकर प्राप्त किए गए अनुभव-सत्यों को परिवेश के ही बिंबों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है।'

मानवीयता के पक्षधर मिश्र जी ने इस संग्रह में समूची भारतीय जिंदगी के मर्मस्पर्शी पहलुओं को उकेरा है। इसमें एक तरफ महानगरीय विसंगतियाँ हैं, तो दूसरी ओर ग्रामीण परिवेश। 'पताकाएँ', 'लाशों के बीच जीवित होने की पीड़ा', 'भाग्यशाली', 'केन्द्र और परिधि ऊँ छोटी-बड़ी मछलियाँ' आदि कविताएँ शोषण, सरकारी भ्रष्टाचार तथा राजनीतिक विसंगतियों का खुलासा करती हैं। 'विपर्यय', 'एक सपना' तथा 'परकटी धूप' कविताओं में त्रसद अमानवीय परिवेश' सम्पूर्णता से जीवंत हो उठा है-

रोज गीली-सी मुसकराहटें / गरम मोम-सी चिपक जाती हैं मेरे चेहरे पर
और एक जलता हुआ दाग छोड़ / रेत-सी झड़ जाती हैं।

'समय देवता' कवि की अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। जगदीश नारायण श्रीवास्तव के अनुसार, 'समय देवता' शीर्षक-रामदरश मिश्र की लंबी कविता इस विलाप करते देश के क्रूर जीवन यथार्थ को इसी संवेदनात्मक फलक पर गहराई से उकेरती है और उसके अंतर्विरोधों को पूरी तार्किकता के साथ उद्घाटित करने का उदाहरण बनती है। समकालीन यथार्थ का सांगोपाँग और प्रमाणिक चित्रण इस कविता में हुआ है-

तुम्हारा न्याय बड़ा निर्मम है देवता/ तुम्हारे काँपते हाथों ने तराजू का पलड़ा
झुका दिया है उस ओर / जिस ओर गेहुँअन साँपों का समूह
कुंडली मारे बैठा है गड़े रत्नों पर / आराम से चूहों को पान की तरह चुभलाता हुआ।

'फिर वही लोग' कविता परिदृश्य में व्याप्त, भयावह समस्याओं से साक्षात्कार तो कराती ही है, साथ ही स्वाधीनता पर भी प्रश्नचिह्न लगाती है-

एक झटके से कुहरे का परदा उठता है / और एक खंडित काला पठार
यहाँ से वहाँ तक बिछा होता है / जीवित शव...शव...शव...
जिन पर कुत्तों और गीदड़ों की तरह / झुकी होती हैं-
एक बेकारी / एक महामारी
एक मँगाई / एक अकाल।

संग्रह में कुछ गीतात्मक प्रकृति की कविताएँ हैं जिनका कथ्य और शिल्प की दृष्टि से अनूठा सौंदर्य है। इन कविताओं में 'समय जल सा : नौ कविताएँ', 'एक बहकी हवा फागुन की', 'विदाभास', 'महुए के फूल झर गए', 'पतझर की दोपहर', 'वसंत का एक दिन', 'यायावर बादल', 'ग्रीष्म दोपहरी : छह कविताएँ', 'जल पर झुकी हुई डाल', 'रात में डूबे पथों पर', 'एक गीत', 'पूछती आज कोई', 'फागुनी शाम : एक नीली झील', 'पहाड़ी झील के तट पर', 'आती-आती सी शाम', 'धूप फड़फड़ाती', 'कुछ चित्र' आदि प्रमुख हैं। कवि की इन गीतात्मक प्रकृति की प्रकृति प्रधान कविताओं का अपना सौंदर्य है पर विद्रूप समय की आहटें इनमें भी सुनाई देती है।

'कंधे पर सूरज' में 'पक गई है धूप' की अपेक्षा कवि का सामाजिक रूप अधिक मुख है। स्थितियों के प्रति अपनी छटपटाहट को संवेदनात्मक तरलता द्वारा वे टूटते हुए गाँव, चुकते हुए जीवन-मूल्य और परिवेशगत विसंगतियों से टकराते हुए प्रतीत होते हैं। परिवेश की विसंगतियों के

प्रति अस्वीकारात्मक मुद्रा होने के बावजूद मिश्र जी कहीं भी आक्रामक नहीं होते। वे अपने परिवेश से गहराई से जुड़े होने के कारण लगाव अनुभव करते हैं, अत: छोटी-छोटी स्थितियों को भी सघन आंतरिकता से रच डालते हैं। वस्तुजगत का तथ्यात्मक चित्रण मात्र ही नहीं है वरन् तथ्य के साथ विशिष्ट रागात्मक संबंध उनकी कविताओं को अधिक सघन बनाता है। राजनीतिक आजादी के बावजूद आजादी के लिए छटपटाहट जारी है और कवि की यह छटपटाहट इन शब्दों में व्यक्त होती है-

हवाएँ...हवाएँ...हवाएँ... / आँसू गैस-सी हवाएँ भर गई हैं
हर आँख में / और हर आदमी स्वतंत्र होकर भी
स्वतंत्र होने के लिए छटपटा रहा है।

युग की निराशाजनक तस्वीर, खींचते हुए वर्ग वैषम्य, जमीन से कटकर आयातित बोध के प्रति झुकाव, देश को धर्म, संप्रदाय के बीच बाँटने का प्रयास, पूँजीपतियों का स्वार्थ, पाश्चात्य सभ्यता की विकृतियाँ, भोगवादी संस्कृति के प्रति बढ़ता रुझान, साम्राज्यवादी शक्तियों द्वारा किया जा रहा मानवता का ध्वंश आदि प्रवृत्तियों को मिश्र जी ने अपनी कविताओं का विषय बनाया है। तत्कालीन समाज-बोध को पैने व्यंग्य द्वारा प्रस्तुत करते हुए मिश्रजी व्यवस्था के जन विरोधी स्वरूप से बार-बार परिचित कराते चलते हैं। जहाँ तक प्रकृति की बात है तो डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ के शब्दों में, ह्जिस प्रकृति राग में मिश्रजी की कविताओं की नींव रखी थी, वह बाद की कविताओं में एकदम अनुपस्थित नहीं है। प्रकृति अब भी कविताओं में होती है, लेकिन उसके उल्लसित रूप के बजाय, अवसाद और खिन्नता से भर रूप अधिक मुखर है। 'खाली पेड़', 'सूख चली तलैया', 'टूटे बरगद', 'गंधहीन गुलाब', 'धूपहीन सूरज' जैसे प्रयोगों से अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रकृति के प्रति रोमानी दृष्टिकोण बिल्कुल नहीं रहा।

निष्कर्ष रूप से यही कहा जा सकता है कि संग्रह की अधिकांश कविताओं में मिश्र जी की अनुभव संपन्नता से परिचय प्राप्त होता है, जहाँ वे किसी प्रकार की निर्मम चीड़-फाड़ में लीन न होकर संवेदनात्मक अभिप्रायों की पहचान कराते हैं। संवेदनात्मक विस्तार के साथ-साथ कवि का द्वंद्वएवं आत्मसंघर्ष भी इन कविताओं में साफ झलकता है। उनकी अनुभवात्मक कविताएँ सामाजिक जीवन के बहुआयामी यथार्थ को पहचानती है और मुक्तिबोध की तरह अपने समय के संक्रांत यथार्थ को प्रस्तुत करती हैं। उनके अनुभव जगत की व्यापकता स्वयं उन्हीं के शब्दों में व्यक्त हो जाती है- 'मैं नहीं चाहता कि मैं एक सीमित अनुभव की कविताएँ लिखूँ या पढ़ूँ। मैं कविता को हथयार नहीं मानता, उसे मानवीय संवेदना को अधिक समृद्ध और जीवन-दृष्टि को अधिक मानवीय बनाने वाला सांस्कृतिक प्रयत्न मानता हूँ।

'दिन एक नदी बन गया' मिश्रजी की काव्य-यात्रा का प्रमुख पड़ाव है जिसमें वे अपनी पूर्व सहजता के बावजूद कविता के मुहावरे को अपेक्षाकृत अधिक धारदार बनाते हैं। अपनी स्पष्ट मुद्रा में सामाजिक विसंगतियों, राजनीतिक विद्रूपताओं, सांस्कृतिक ह्रास आदि को उन्होंने व्यंग्य, नाटकीयता और गहरी संवेदनशीलता के माध्यम से व्यक्त किया है। तत्कालीन व्यवस्था की विडम्बनामूलक स्थितियों को रूपायित करते हुए व्यापारी (नेता, पूँजीपतियों आदि की स्वार्थी

मनोवृत्ति का अत्यन्त सटीक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। यह विश्लेषण शांत व संयत शब्दावली में एक ओर जहाँ सत्य से साक्षात्कार कराता है वहीं प्रबुद्ध पाठकों की चेतना को झकझोर डालता है।

कृष्ण दत्त पालीवाल के अनुसार, 'रामदरश मिश्र दूसरों को टटोलने के बाद खुद को टटोलते हैं ताकि कहने में ईमानदारी रहे। एक खासियत यह भी है कि कविताओं में कोई आरोपित मसीहाई मुद्रा नहीं है। राजनीतिक स्थितियों के संदर्भों और प्रतीकों को जिंदगी के रोजमर्रा के अनुभव के आधार पर ही पेश किया गया है। भाषा में कहीं लफफाजी का धुँआ भी नहीं है जो आँखों को आरपार न देखने दें।'

इस संग्रह में उनकी सामाजिक प्रतिबद्धता अधिक परिपक्व रूप से दृष्टिगत होती है। 'नदी बहती है' में राजनीतिक भ्रष्टाचार, 'कलम' कविता में कवि या साहित्यकार द्वारा सत्य की अभिव्यक्ति पर बल तथा 'मौसम' कविता में प्रतीक रूप में बदलते परिवेश का अंकन किया गया है। वह कविता निर्धन व्यक्ति की अस्मिताविहीन नियति का चित्रंकन करती है। 'चूहे' कविता का व्यंग्य अत्यन्त सशक्त है जो विनाशकारी तत्त्वों से सावधान रहने हेतु प्रेरित करता है।

संग्रह की अधिकांश कविताओं में विषमताग्रस्त समाज की अमानवीय स्थितियों का अत्यन्त सटीक चित्रण है। फुटपाथ पर सोकर भी सपने देखने का सामाजिक अपराध करने वाले 'लोकराम' को गोली मार दी जाती है। लोहे की शक्ल में स्वयं को ढाल लेने वाले सपने अब आँखों में नहीं पलते वरन आँखों को पालते हैं–

वे सपने अब सपने नहीं रहे / वे लोहे की शक्ल में अपने को ढाल रहे हैं
पहले उन्हें आँखें पालती थीं / अब वे आँखों को पाल रहे हैं।

इस संग्रह को लोक-मानस की रचनाधर्मिता का विरोध स्वर भी कहा जा सकता है। इसमें जन-जन से जुड़ने और उन्हें जोड़ने की, उन्हें जीवन के प्रति आश्वस्त करने की तीव्र लालसा है।

'जुलूस कहाँ जा रहा है' में 'दिन एक नदी बन गया' '1984' के बाद की कविताएँ हैं किन्तु कुछ कविताएँ 1984 से पहले की भी हैं जो मिश्रजी को अत्यंत प्रिय होते हुए भी 'दिन एक नदी बन गया' में नहीं आ पायी थीं। संग्रह की कविताएँ दहशत भरे मन की कविताएँ हैं। मिश्रजी समकालीन यथार्थ की संश्लिष्ट पहचान कराते हुए सामाजिक वैषम्य के लिए दोषी एक विशिष्ट वर्ग की ओर संकेत करते हैं तथा शोषित जनसमुदाय के प्रति अपनी पक्षधरता एवं संवेदनात्मकता को व्यक्त करते हैं। 'जुलूस' कविता इसी परिदृश्य को इन शब्दों में प्रस्तुत करती है–

हाँ जुलूस जा रहा है / रास्तों को रौंदता/फसलों को कुचलता
घरों को तोड़ता-फोड़ता / रथों पर बैठे हैं ऊँचे लागे
और लाखों फटेहाल लोग/रथ खींच रहे हैं / जिन्हें नहीं मालूम कि जुलूस कहाँ जा रहा है।

'आग कुछ नहीं बोलती' मानवीय जीवन के बुनियादी सरोकारों से गहरे स्तर तक जुड़ी हुई काव्य-कृति है। संग्रह की अध्किांश कविताएँ तत्कालीन नेतृत्व से क्षुब्ध मिश्र जी की चिंता को व्यक्त करती हैं लेकिन भविष्य के प्रति उनका आश्वस्ति भाव भी कविताओं में व्यक्त हुआ है। समाज में व्याप्त हिंसा-भाव एवं संवेदनशून्यता को देखकर कवि की रचनात्मक चिंता छटपटा

उठती है। 'पेड़' जैसी प्रतीकात्मक कविता के माध्यम से कवि अपने समय की समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए कहता है–

तुम क्या कभी इन पेड़ों को देखते हो / यह सब कुछ देखते हुए?
मैं देखता हूँ / और लगता है
जब तक इन्हें देखता रहूँगा / मेरी कविता बची रहेगी।

संग्रह में 'आग' का प्रतीक रूप में प्रयोग किया गया है। कहीं यह 'आग' समाज के अंतर्विरोध को उजागर करती है तो कहीं सामाजिक विद्रूपताओं को उद्घाटित करती है। दहक रहा है गुलमोहर, जलता सन्नाटा, जलती भूख, जलती दोपहरी, जलती हुई आँधी आदि बिंब और उपमान भी आग से ही लिए गए हैं। सत्यकाम के अनुसार, 'इन कविताओं में सर्वत्र आग ही आग है। कहीं प्रत्यक्ष रूप में तो कहीं प्रच्छन्न रूप में, कहीं धधकती हुई तो कहीं राख तले छिपी हुई। कहीं आग दहक रही है तो कहीं कवि केवल उसकी आँच महसूस कर रहा है।

कुछ कविताओं में कवि ने विरोधी ध्रुवों को तानकर अपनी बात कही है। आलोचना की भाषा में इसे 'द्वंद्वात्मक संरचना' कहा जाता है। उदाहरणार्थ 'कुर्ते' कविता में कवि 'गाढ़े के कुर्ते' के सामने 'धराऊ रेशम के कुर्ते' का प्रतीक रखता है तथा 'गर्वोन्नत भवन' के सामने मिटी' खड़ी करता है। कुछ कविताओं में स्मृतियों की गहरी पकड़ है। ज्योतिष जोशी के अनुसार, ह्वे तीव्र संवेदना के कवि हैं। इसलिए स्मृति उनके यहाँ जरूरी राग बनाने और संबंधों की अनिवार्यता सिद्ध करने आती है।

संग्रह की कुछ कविताओं में आज का सबसे पीड़ादायक यथार्थ भी उभरकर आया है। मेरा अभिप्राय यहाँ साम्प्रदायिकता से है। 'अपढ़', 'शब्द' और 'गोली' आदि कविताएँ इसका सजीव उदाहरण है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अधिकांश कविताएँ अनेक अर्थों को खोलती हैं। बिंबों और प्रतीकों के टटके प्रयोग कविताओं में एक नया प्रभाव व नयी स्रीति उत्पन्न कर देते हैं। अपने समय को पूरी निष्ठा और ईमानदारी से समेटता कवि हर स्थिति को उभार कर रखता है। उभारने की इस प्रक्रिया में न तो खाली क्रांति दिखाई देती है और न केवल उच्छवासपूर्ण अभिव्यक्ति। समय के साथ चलते हुए, बिना किसी वाद में सम्मिलित हुए मिश्रजी ने अनुभवों की विशाल संपदा को कविताओं के माध्यम से व्यक्त किया है।

'बारिश में भीगते बच्चे' मिश्रजी के प्रमुख सृजनात्मक वैशिष्ट्य यानी कि सहज भाव संपन्न 96 कविताओं का संग्रह है जो उन्होंने अपने नन्हें पौत्र-पौत्रियों को समर्पित किया है। मिश्र जी यांत्रिक समय की विभीषिका और भ्रमित समाज को देखकर छटपटा उठते हैं लेकिन समय के इस कुरूप चेहरे को व्यक्त करते समय निराशा के रेगिस्तान के बीच आशा और विश्वास की हरियाली उगा देते हैं।

संग्रह में मिश्र जी की कुछ ऐसी कविताएँ भी हैं जिन्हें प्रकाश मनु ने 'गँवई ठाठ' की कविताएँ कहा है यानी कि गाँव, खेतों, प्रकृति के उल्लास की कविताएँ। इस तरह की कविताएँ लिखते समय मानो मिश्र जी के अंदर बसा गाँव झर-झर करके झरने लगता है। प्रकृति का उल्लास कुछ इस तरह

टूटता है कि पाठक उसी में रमकर रह जाता है। इन कविताओं के संदर्भ में एक विशेष बात द्रष्टव्य है कि ये कविताएँ किसी न किसी रूप में जीवन सत्य से साक्षात्कार अवश्य कराती हैं।

'घर : पाँच कविताएँ' के अंतर्गत सामाजिक वैषम्य, 'आशीष' के अंतर्गत जलते समय की चिंता, 'बाढ़' में व्यवस्था पर व्यंग्य 'तुम और मैं' जीवन की अंतरंग, सघन स्मृतियाँ 'हाथ' में साम्प्रदायिकता की विभिषिका 'यह किसका घर है' व 'डर' में मानवता की तलाश व 'लकड़हारा' कविता में ठंडे चूल्हें की यातना का मर्मस्पर्शी चित्रण है।

'रामदरश मिश्र के कविता-संग्रह 'बारिश में भीगते बच्चे' कविताओं को पढ़ते समय लगता है कि अपने समय-सहचर से बराबर संवाद बनाये रखते हुए आरोपित विसंगतियों के मुखर प्रतिवाद के साथ मनुष्य को बेहतर मनुष्य और समाज को बेहतर समाज बनाने की जो चिंता उनके पूर्ववर्ती काव्य-संग्रहों में केन्द्रस्थ है, वह इस संग्रह का भी प्रतिनिधि स्तर है।'

'हँसी ओठ पर आँखें नम हैं' मिश्रजी का, ग़ज़ल-संग्रह है, जिसमें पूर्व प्रकाशित ग़ज़ल-संग्रह 'बाजार को निकले हैं लोग' की ग़ज़लें भी सम्मिलित हैं। इस ग़ज़ल-संग्रह में 101 ग़ज़लें संगृहीत हैं। मिश्रजी ग़ज़ल विधा पर अपना अधिकार नहीं मानते। उनके शब्दों में ह्रमैं इस शैली पर अपना कोई अधिकार नहीं समझता। ग़ज़ल की शैली में कुछ कविताएँ लिखने का नम्र प्रयास किया है।ह

ग़ज़ल-संग्रह का अध्ययन करने के पश्चात् यही कहा जा सकता है कि मिश्रजी की ग़ज़लों का अपना अलग रंग है। मारक प्रभाव से युक्त ये ग़ज़लें कहीं-कहीं उनकी कविताओं से भी अधिक प्रभावी हो उठी हैं। समकालीन यथार्थ के विविध आयाम इनमें मुखरित हो उठे हैं। कहीं-कहीं कुछ शब्दों का प्रयोग खटकता है पर कुल मिलाकर ग़ज़लकार दुष्यन्त की ग़ज़लों का तेवर इनमें दिखाई पड़ता है। चिंतन के स्तर पर एक नई दिशा मिश्र जी की ग़ज़लों में दिखाई देती है। जहाँ तक शिल्प का प्रश्न है, मिश्रजी की ग़ज़लों में उर्दू के क्लिष्ट शब्दों के प्रति मोह नहीं है। उन्होंने हिंदी भाषा में उर्दू भाषा के लोकप्रचलित शब्दों को अपनाया है। कहीं-कहीं 'पेशीदा' आदि ऐसे शब्दों का प्रयोग भी है जिनका अर्थ आम हिंदी भाषा भाषी को ज्ञात नहीं है। कुल मिलाकर मिश्रजी का हिंदी ग़ज़ल परम्परा में विशिष्ट स्थान है।

'ऐसे में जब कभी' उनका प्रसिद्ध काव्य-संग्रह है जो 1999 में 'नमन प्रकाशन, दिल्ली' से प्रकाशित हुआ है। यह संग्रह स्वयं में वैविध्यपूर्ण है। इसकी कुछ कविताओं में जीवन-संध्या के ऐसे स्वर गूँज रहे हैं, जो पहले के किसी संग्रह में सुनाई नहीं पड़े थे। 'ऐसे में जब कभी' संग्रह की प्रसि) कविता है 'नदी एक रोशनी की' जिसका रचना-समय 1998 है। चौहत्तर वर्ष की अवस्था में लिखी यह कविता अतीत के संघर्षों को तो मुखर करती ही है, साथ ही घर में जगमगाती उन लिपियों की ओर ध्यान आकृष्ट करती है जिनके पीछे अन्नपूर्णा की तपस्या है। अन्नपूर्णा... जिसने कवि की साधना में अपना मौन योगदान दिया है। गृहस्थी के हर दायित्व का निर्वहन करते हुए उसने अपने को तिल-तिल जलाया है। वह गृहस्थी की आँच में तपती रही और कवि साहित्य साधना में स्वयं को तपाता रहा। तपस्या के ग्लस्वरूप उसका घर, घर होने के साथ-साथ

'साहित्याश्रम' भी बन गया है। वार्धक्य के दिनों में जब वह घर के हर कोने में बिखरे साहित्य को देखता है तो उसे लगता है कि उसके बाद उसकी यह साधना उपेक्षित न हो जाए। एक क्षण के लिए तो वह अकुला उठता है, पर दूसरे ही क्षण उसकी चिरपरिचित सहचरी आस्था मुस्कुरा उठती है। वह अपने बच्चों को संबोधित करते हुए भौतिकता की अँधी-आँधी से बचने की प्रेरणा देता हुआ, पुस्तकों के सामीप्य में रहने की सीख देता है-

मेरे बच्चों / आगे का सफर तुम्हारा है / तुम्हें अपने घर स्वयं बनाने हैं
लेकिन कभी-कभी इस घर में भी हो लेना / छूना इसके अहसासों को अपनी साँसों से
चले जाना किताबों के पास / इनके पन्नों को/प्यार से आहिस्ता-आहिस्ता पलटना
और सुनना इनकी आवाज / तब तुम्हें लगेगा
तुम्हारे भीतर एक नदी बहने लगी है रोशनी की।

कवि की यह चिंता और उद्‌बोधन मात्र वैयक्तिक ही नहीं है वरन् उसमें छिपी है हर सरस्वती-साधक की चिंता और अपनी पीढ़ियों को एक समृद्ध विरासत दे जाने की भावना। कवि के लिए रचनाएँ उसका जीवन होती हैं। कवि उन्हें अपने भीतरी दबाव से रचता है। रचना उसे सुख देती है, नया अर्थ देती है, मूल्य देती है। मूल्यों की सुरक्षा कवि की सबसे बड़ी चिंता है।

'ऐसे में जब कभी' की कविताएँ स्वयं में अद्‌भुत है। अनुभूतियों का वैविध्य अपनी जगमगाहट के साथ उनमें दीप्त हो रहा है। इस संग्रह की अधिकांश कविताएँ 1997-98 में लिखी गई हैं। दो-चार 96 की भी हैं। समाज के दु:ख-दर्द के प्रति इस अवस्था में गहरा सरोकार रखते हुए वे सृजनरत हैं। वे कभी युगजन्य नकारों के सामने पराजित नहीं हुए हैं। अपनी पारदर्शी स्पष्टता के बावजूद भी पाठकों को अनेकानेक बौद्धिक और संवेदनात्मक स्तरों से गुजारते हुए उनकी कविताएँ पाठकों के हृदय में उतरती चली जाती हैं।

'आम के पत्ते' मिश्रजी का नवीनतम प्रकाशित काव्य-संग्रह है। संग्रह से गुजरते समय दो तरह की कविताएँ सामने आती हैं, 1-घर, परिवार और आत्मीय स्मृतियों की कविताएँ, 2-सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक विसंगतियों एवं अवमूल्यन की कविताएँ। संग्रह की 50 कविताओं में से कुछ कविताएँ डुमरी की पगडंडियों खेतों, हवाओं और नदियों तक ले जाती हैं और मिश्र जी के संवेदनशील मन में स्पंदित अनेक आत्मीय स्मृतियों को सघनता से परिचित कराती हैं। कुछ कविताएँ घर-आँगन में बिखरी अनेक निर्जीव वस्तुओं के प्रति कवि के गहरे, लगाव को रूपायित करते हुए बड़ी ही संवेदनशील बन पड़ी हैं। 'पिता तुम्हारी आँखों में' कविता संवेदनशील पिता-पुत्र के मध्य स्थित गहरी आत्मीय समझ को अभिव्यक्त करती है।

वर्तमान त्रसद परिवेश में निर्जीव वस्तुओं की उपस्थिति को आत्मीय व्यक्तियों की उपस्थिति के रूप में ढालते हुए कवि जीवन को उत्सवमय सा बना देता है। 'मेज', 'कलम', 'चमचा', 'सुई', 'चाकू', 'पंखा', 'झाड़ू', 'फाइल' आदि कविताओं में एक ओर आत्मीय अनुभूतियों की सघनता है, वहीं दूसरी ओर कवि की सामाजिक प्रतिबद्धता मुखर हो उठी है। अनुभूति और विचार की

संश्लिष्टता समेटे ये कविताएँ पाठक के मनोमस्तिष्क पर दस्तक देती प्रतीत होती है-

मेरे सबसे अच्छे दिन वे होते हैं / जब मैं आज की धरती पर
कल का आकाश रचने वाली / अँगुलियों में होती हूँ।

संग्रह की कई कविताएँ समकालीन विडम्बनाओं से टकरा उन पर आक्रमण करती प्रतीत होती हैं पर यह आक्रमण संयमित व संतुलित आक्रमण है। तीखे किंतु सभ्य व्यंग्य के माध्यम से कवि अपना आक्रोश दर्ज कराता है और वैचारिक प्रखरता की अनगिनत छवियाँ 'कुर्सियाँ', 'कला', 'नंगे', 'अपढ़', 'खोज', 'उसके हाथ', 'समानधर्मी', 'पता नहीं', 'साहित्य पुराण', 'मैं और वह', 'माइक' तथा 'लकीरें' आदि कविताओं में देखने को मिल जाती हैं।

मिश्र जी के काव्य-संसार का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि मिश्र जी प्रगतिवादी दृष्टि लेकर नई कविता की ओर बढ़े थे और उनकी यही दृष्टि अद्यतन विद्यमान है। परिवेशजन्य अनुभवों की ताजगी व लोक-चेतना की विविध संवेदनाएँ उनके काव्य-संसार में व्याप्त हैं। डॉ. स्मिता मिश्र के अनुसार 'सभी संग्रहों की कविताएँ कविता की मूल प्रकृति से जुड़ी होने के बावजूद अपने अनुभवों और विचारों में नयापन लिए हुए है। हर नया संग्रह अपने को पहले के संग्रहों से कहीं न कहीं अलगाता है और नये रंग धारण करता हुआ अपनी उपस्थिति को सार्थक बनाता है और पाठक यह अनुभव करता है कि मिश्रजी की काव्य-यात्र चुकी नहीं है, बल्कि उसमें निरन्तर नया उन्मेष आता जा रहा है।

मिश्र जी का एक वैशिष्ट्य यह भी है कि आलोचकों को उनकी जो कविताएँ सरल व इकहरी-सी प्रतीत होती हैं वे कविताएँ सहज और संश्लिष्ट कविताएँ हैं।उनके संकेत देखने में भले ही सरल एवं स्पष्ट प्रतीत हों किन्तु उनका विश्लेषण अत्यन्त गूढ़ होता है। मिश्र जी का भारतीय मन मनुष्यता की पहचान के लिए निरन्तर उत्सुक रहता है। जीवन और जिजीविषा के कवि मिश्र जी की अधिकांश कविताओं में जीवन के स्पंदनों की गूँज है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मिश्र जी समकालीन कविता के सशक्त हस्ताक्षर हैं। अनुभूति केन्द्रितता उनकी कविता की सबसे बड़ी शक्ति और पहचान है। उनकी जीवनधर्मी और लोकधर्मी कविताओं में वस्तु और शिल्प का अद्वैत है। सहज संवेदना के कवि मिश्र जी आधुनिकता जीकर आकार देने में विश्वास रखते हैं, किन्तु वे अति आधुनिकता के समर्थक कभी नहीं रहे हैं। अंतरंग स्व से लेकर बृहत्तर सामाजिक यथार्थ को चित्रित करती उनकी कविताएँ प्रगतिशीलता के पूर्व निर्मित ढाँचे को तोड़कर जो रास्ता तलाश करती है, वही रास्ता उन कविताओं को समकालीन कविता में मील का पत्थर बना देता है।

एसो.प्रो. हिन्दी विभाग, आर.बी.डी. पी.जी. कालेज, बिजनौर-246701 (उ.प्र.), *drsavitamishra64@gmail.com*
संपर्क : डॉ. सविता मिश्र, 292/10, साहित्य विहार, बिजनौर-246701 (उ.प्र.), मो. 9719659317

आलेख

# नैराश्य के बीच जीवन के प्रति आस्था का भाव जगाती कहानियाँ

## रामदरश मिश्र की कहानियाँ

डॉ. अमिता

**प्रेमचंद ने समाज को सुधारने के लिए जो रास्ता दिखाया था रामदरश मिश्र की राह भी वही है। रामदरश मिश्र के कहानियों में समाज में बदलाव के लिए एक अलग प्रकार की तड़प है। कहानीकार रामदरश मिश्र की कहानियों में सामाजिक व्यवस्था के अन्याय के विरुद्ध जगह-जगह आवाज उठायी है। समाज में जो कुछ गलत हो रहा है उसे कहानियों के पात्र चुपचाप सहन नहीं करते बल्कि अपनी पूरी सामर्थ्य से उस अन्याय और अनीति का विरोध करते हैं।**

विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न रामदरश मिश्र कवि के रूप में हिन्दी साहित्य जगत में जाने पहचाने जाते हैं किन्तु कहानीकार के रूप में उनकी एक अलग पहचान है। वैविध्य और परिमाण की दृष्टि से साहित्य की विभिन्न विधाओं (कविता, कहानी, निबंध, उपन्यास, यात्रावृत्त, संस्मरण, आत्मकथा, आलोचना) में उपलब्ध रामदरश मिश्र का यह विपुल साहित्य हिन्दी साहित्य जगत की अक्षय एवं अमूल्य निधि है। कहानी के क्षेत्र में उनका योगदान उल्लेखनीय है। उनका पहला कहानी संग्रह 'खाली घर' 1969 में आया था तब से वर्तमान समय तक उनके 16 कहानी संग्रह ('एक वह', 'दिनचर्या', 'सर्पदंश', 'बसंत का एक दिन', 'इकसठ कहानियां', 'अपने लिए', 'मेरी प्रिय कहानियां', 'चर्चित कहानियां', 'श्रेष्ठ आंचलिक कहानियां', 'आज का दिन भी', 'फिर कब आयेंगे?', 'एक कहानी लगातार', 'विदूषक', 'मेरी तेरह कहानियां', 'दिन के साथ') आ चुके हैं।

देश की आजादी मिलने के बाद के रचनाकारों में रामदरश मिश्र ने प्रभावशाली लेखन किया है।

इसलिए स्वाधीनता प्राप्ति के बाद नवनिर्माण के सपनों के टूटने की पीड़ा उनकी कहानियों में सर्वत्र दिखायी पड़ती है। यह सत्य है कि स्वाधीनता के पश्चात् भारतीय जीवन में सर्वत्र स्वार्थपरता, बेईमानी, लोभ, भ्रष्टाचार जैसी प्रवृत्तियां निरंतर फैलती गयी हैं। आजादी की लड़ाई लड़ने वाले आम आदमी के सपने टूटने लगे। गरीबी, अभाव, और घुटन से मुक्ति पाने की कल्पना घूमिल हो गयी है। विषमताओं, विसंगतियों के इस नैराश्यपूर्ण परिवेश का यथार्थ चित्रण रामदरश मिश्र की कहानियों में सर्वत्र दिखायी पड़ता है। किंतु जीवन की विषम परिस्थितियों के बीच मिश्र जी की ये कहानियां भविष्य के प्रति छटपटाते मनुष्य को आश्वस्ति भी प्रदान करती हैं और मनुष्य के भीतर आशा विश्वास एवं जीवन के प्रति आस्था का भाव जगाती हैं।

मार्क्सवादी दृष्टि से प्रभावित कहानीकार रामदरश मिश्र ने अपनी एक प्रगतिशील दृष्टि विकसित की है जो अपनी मिट्टी से जुड़ी हुई हैं। उनकी प्रगतिशीलता विराट एवं व्यापक जीवनुभवों के सघन विवेक दृष्ट से समृद्ध है। रामदरश मिश्र की प्रगतिशील दृष्टि जीवन के किसी अंग अथवा घटना के केन्द्र में स्थित मानवीय अथवा अमानवीय सरोकारों को बहुत गहराई से पहचान लेती है। उनकी दृष्टि जीवन के बहुआयामीय संवेदनलोक को परत-दर परत खोलते हुए कहानी की संरचना को प्रभावशाली रूप प्रदान करती है। समस्त कहानियों में उनकी मानवीय दृष्टि का सहज स्पर्श दिखायी पड़ता है। लोक जीवन के विस्तार और विविध संवदेनाओं की सघनता के बीच ये कहानियां अपनी सहजता और सरलता में अनुपम हैं।

रामदरश मिश्र की कहानियां अपनी मिट्टी और अपने परिवेश से गहरा संबंध रखती हैं। कहानियों की इस सृजन प्रक्रिया में उनकी गरीबी, अभावमयी पारिवारिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं परोक्ष रूप में विद्यमान है। इसलिए अभिशप्त मनुष्य की नियति के यथार्थ चित्रण के साथ उसके बदलने की चेष्टा उनकी समस्त कहानियों में विद्यमान है। यही उनकी रचना धर्मिता की पहचान भी है और उनकी शक्ति भी।

रामदरश मिश्र की कहानियों में शहर भी है किन्तु रामदरश मिश्र अपने गंवई संस्कार को हमेशा साथ ही रखते हैं। कहानीकार रामदरश मिश्र की कहानियों के केन्द्र में मुख्यत: गांव ही है। अपनी जीवन यात्रा में कस्बे, नगर और महानगर से भी उन्होंने अपनी कहानियों के लिए अनुभव बटोरे हैं किंतु गांव के सघन अनुभव जितने प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण बन पड़े हैं उतने कस्बे, नगर और महानगर के नहीं। देहात की मिट्टी की गंध लिए कहानीकार महानगरीय जीवन की घुटन से अपने गांव की सहज, सुखद और संघर्षशील स्थितियों में बार-बार लौटता है। 'और' कहानी में आनंद के माध्यम से कहानीकार अपनी इस पीड़ा को ही व्यक्त करता है।

वस्तुत: गांव के व्यक्ति की पीड़ा शिक्षा और रोजगार की प्रक्रिया में घर से दूर अथवा अपनों से दूर रहने की बेबसी से जुड़ी है। कहानीकार रामदरश मिश्र को भी शिक्षा और बाद में आजीविका के लिए नगर-महानगर भटकना पड़ा। इस भटकाव में उन्हें अपरिचित, अनजान और असुरक्षित स्थितियों के त्रास को भोगना पड़ा। इस प्रकार परायेपन, अजनबीपन, असुरक्षा और भय की

स्थितियों में उन्हें गांव के सहज, अकृत्रिम आत्मीय लोगों के सौहार्दपूर्ण एवं स्नेहशील संबंध महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान लगे। रामदरश मिश्र की 'भइया', 'मां', 'बबुआ', 'मां, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो', 'पराया शहर', 'छूटता हुआ नगर', कहानियों में घर से दूर रहने वाले व्यक्ति का यह दर्द गहरी वेदना लिए प्रकट होता है।

गांव के बिछुड़ जाने का दर्द उनकी कहानियों में कई स्थानों पर उभरता रहता है। महानगर में रहते हुए भी कहानीकार विभिन्न अवसरों पर गांव जाते रहे हैं। मिश्र जी को अपने लंबे जीवन की यात्रा में आजादी के बाद और विशेषत:1960 के बाद गाँव का रूप बदला हुआ दिखायी पड़ा जिसका संकेत वे 'एक और यात्रा' कहानी में करते हैं। गाँव का यह बदला हुआ रूप उनके गंवई हृदय को रास नहीं आता है। गाँव में भी शहर की प्रदूषित वायु का प्रवेश होने लगा है। उनमें भी तरह-तरह के स्वार्थ जग गए हैं। उनमें अब किसी के लिए फुर्सत नहीं है। 'उनके पारिवारिक रिश्तों में आत्मीयता, सौहार्द और स्नेह के स्थान पर स्वार्थ आ गया है। उनका फक्कड़पन खत्म हो गया है। त्यौहारों और उत्सवों की रंगत पैसे और राजनीतिक प्रदूषण में कहीं खो गयी है।'

कहानीकार रामदरश मिश्र ने अपने गाँव 'डुमरी' जनपद 'गोरखपुर' और 'कछार' अंचल को उसके समस्त अभावों, प्राकृतिक रूपों और जिजीविषापूर्ण संघर्षों के विविध रूपों को अपनी कहानियों में चित्रित किया है। इन कहानियों में कहीं लोगों की भयंकर गरीबी, पीड़ा, बीमारी, प्राकृतिक प्रकोप-बाढ़, सूखा आदि अभिशप्त जिन्दगी की कथा है जो कहीं पर्व, त्योहारों, उत्सवों, सामूहिक उल्लासों के साथ प्रकृति के रूप, रंग एवं गंध के प्रभावशाली प्रसंगों की कथा है। इन सब के साथ मनुष्य और मनुष्य के बीच कोई रिश्ता है जो कृत्रिम न होकर सहज एवं आत्मीय है।

आजादी के बाद समाज में प्रत्येक स्तर पर परिवर्तन हो रहे हैं। गाँव और नगर कहीं कोई भी इस परिवर्तन से अछूता नहीं। कहानीकार रामदरश मिश्र गाँव में आए परिवर्तनों के बावजूद वहां मनुष्य के पारिवारिक रिश्तों की सहजता और मधुरता को खोज लेते हैं जो उन्हें नगर और महानगर में कही नहीं दिखाई पड़ती है। रामदरश मिश्र की कहानी 'घर' पारिवारिक सम्बन्धों के गहरे रागात्मक स्वरूप का उद्घाटन करती है। 'घर' कहानी का बलराम अपने इस घर के लिए अपने सम्पूर्ण जीवन शक्ति लगा देता है। बचपन में अपने घर की गरीबी को दूर करने के लिए शहर की एक मिल में काम करने चला जाता है और वहाँ से कमा-कमाकर धन अपनी माँ और भाई के बच्चों के लिए भेजता है। मिल में काम करते हुए बलराम की एक आँख फूट जाती है। शहर से वह गाँव आता है तो भाई के लाख प्रयत्न के बावजूद कोई उसके अपनी लड़की नहीं देता है। बलराम अपने मन को समझा लेता है कि आखिर भाई के बच्चे उसके अपने ही तो हैं। किन्तु थोड़े दिनों में ही बलराम को अपना समझने वाले उसके भाई-भाभी मर जाते हैं। वह 8 वर्ष के भतीजे रमेश को गोद में लेकर करुण विलाप करता है कहानी के इस पड़ाव के बाद से कहानी के अन्त तक पाठक बलराम के प्रति एक करुण प्रवाह में बहता हुआ अपने को पाता है। वह अपने भाई के पुत्र रमेश और उसके परिवार को पालता है। दुर्भाग्य से रमेश भी 25 वर्ष की अल्पायु में मर जाता है। उसके पश्चात् रमेश

के बेटे देवदत्त का पालन पोषण करने में अपने को खपाता हुआ बूढ़ा हो जाता है। पालन-पोषण की प्रक्रिया में वह रमेश और देवदत्त से निरंतर अपमान के विषैले घूंट पीता है पर फिर भी उनमें अपना खून (अपने भाई का अंश) समझकर सब कुछ सह जाता है। लेकिन इतना सहकर भी अपने अपने परिवार रूपी वृक्ष की छोटी-छोटी शाखाओं का संरक्षण-पोषण करके उन्हें सबल बनाता है। मनुष्य और उसके पारिवारिक रिश्तों की कथा इस कहानी में अद्‌भुत है जो पाठक के मानस पर गहरा प्रभाव छोड़ती है। 'भइया' कहानी में राजू के पिता गरीबी के कारण और घर पर लदे कर्ज के कारण राजू को पढ़ा नहीं पाते हैं। किन्तु राजू के बड़े भाई छोटी ही उम्र से कक्षा सात पास करके शहर-दर-शहर नौकरी करते हुए परिवार की इस गरीबी को उखाड़ देते हैं और छोटे भाई राजू को पढ़ाने की पूरी कोशिश करते हैं। राजू के बड़े भाई साहब स्वयं भयंकर रोग से ग्रस्त होकर भी राजू की आगे की पढ़ाई के लिए पैसे जोड़कर रखते हैं और अपनी माँ को हिदायत देते हैं कि ये पैसे छोटे भाई राजू की पढ़ाई के लिए हैं, मेरी बीमारी के लिए औषधि लाने के लिए नहीं। कहानी में बड़े भाई के त्याग, परिश्रम और स्नेह के अनेक ऐसे प्रसंग हैं जो अपनी प्रभावशीलता में बड़े मर्मस्पर्शी हैं।

एक तरफ गाँव के परिवेश में व्याप्त जीवन के सच्चे चित्र कहानीकार रामदरश खींचते हैं और दूसरी तरफ शहरी परिवेश की मिश्र जी की एक कहानी है 'आखिरी चिट्ठी' जो शहरी परिवेश के पारिवारिक रिश्तों का सत्य रूप उद्‌घाटित करती है। प्रभा के पिता की मृत्यु के पश्चात् प्रभा के सामर्थ्यवान भाई अपनी माता और बहन प्रभा को बोझ समझने लगते हैं। माँ और प्रभा बारी-बारी से भाइयों के घर रहने के लिए विवश होती हैं। कोई भी भाई खुशी से यह कहने का साहस नहीं जुटाता कि ये मेरी माँ और बहन हैं इन्हें मैं अपने पास रखूंगा। सभी भाई पराएपन का अहसास कराते हैं तथा माँ और बहन को यदा कदा दिलाते रहते हैं। थोड़े दिन रखने के बाद एक भाई अपनी माँ और बहन को यदा कदा दिलाते रहते हैं। थोड़े दिन रखने के बाद एक भाई अपनी मां और बहन को दूसरे भाई के घर पटक आते हैं जैसे कोई व्यक्ति न होकर वे सामान हों। युवा बहन प्रभा के विवाह की उन्हें कोई चिन्ता नहीं होती है। लोक सम्मान के भय से असुन्दर और अरुचि वाला वर उसके माथे मढ़कर वे अपने कर्तव्य की इतिश्री मान लेते हैं। पाठक के हृदय में समर्थ एवं सक्षम भाइयों के द्वारा माँ और बेटी की उपेक्षा और अपमान गहरे दर्द को जन्म दे जाता है।

शहरी परिवेश में मानवीय सम्बन्धों का स्वरूप अनेक प्रकार की विकृतियों से जुड़ा है। शहरी परिवेश में बनावट और दिखावट अधिक है और अनात्मीयता झलकती है। शहरी परिवेश के पारिवारिक स्वरूप का सच्चा चित्र 'अकेली वह' कहानी में भी बड़ा प्रभावशाली है। 'अकेली वह' कहानी की प्रतिभा अपने विषमतम और पीड़ाओं से भरे जीवन से अनवरत जूझती रहती है। देश विभाजन के समय उसी के सामने उसकी माँ, पिता भाई पर तलवारें चलती हैं और उसकी बड़ी बहन को नंगा कर दिया जाता है और दंगाई उसे अपने साथ ले जाते हैं किसी प्रकार प्रतिभा बच जाती है। प्रतिभा की शादी होती है किन्तु बाद में पति उसे अकारण तलाक दे देता है प्रतिभा अपनी

बेटी शुभा को लेकर जीविका के लिए संघर्ष करती है और और बेटी शुभा को एम.बी.बी.एस. करवा देती है। प्रतिभा की यह बेटी शुभा योग्य एवं आत्मनिर्भर बनकर एक डॉक्टर से शादी रचाकर अपनी माँ प्रतिभा को असहाय अवस्था में अकेली छोड़कर अमेरिका चली जाती है। इसी प्रकार 'शेष यात्रा' कहानी का दर्द सहृदय पाठक को गहरी पीड़ा दे जाती है। 'शेष यात्रा' कहानी में पिता सुरेन्द्र की पीड़ा अपने योग्य, शिक्षित पुत्रों महेन्द्र और नरेन्द्र द्वारा गहरी टीस लिए प्रकट होती है। दोनों पुत्र आजीविका के लिए माता-पिता को असहाय और वृद्धावस्था में छोड़कर अमेरिका चले जाते हैं। दोनों वहीं शादी कर लेते हैं और परिवार बसा लेते हैं। पिता सुरेन्द्र की दशा तब और दयनीय हो जाती है जब उसकी पत्नी पार्वती भी मर जाती है। अकेला वृद्ध पिता गहरे अवसाद में डूबा रहता है। इसी प्रकार 'सहारा' कहानी में पति परित्यक्ता सुधा का सहारा केवल वृद्ध पिता ही बनते हैं जो अपनी पेंशन के बल पर स्वयं जिन्दा रहने की कोशिश करते हैं तथा सुधा की जिन्दगी को भी संभालते हैं। सुधा के भाई समर्थ होकर भी सुधा से किनारा कर जाते हैं। इस प्रकार शहरी परिवेश के पारिवारिक सम्बन्धों के इस कटु यथार्थ को मर्मस्पर्शी एवं प्रभावशाली रूप में अन्य कहानियों में अभिव्यक्त हुआ है। शहरी परिवेश की कहानियों में पारिवारिक सम्बन्धों के आत्मीय और मधुर रूप मिश्र जी को अपेक्षाकृत कम दिखाई पड़े है।

इस प्रकार कहानीकार रामदरश मिश्र गाँव और शहर में बने इस पारिवारिक रिश्तों के यथार्थ चित्रण के साथ यह सच्चाई व्यक्त करते हैं कि गाँव परिवेश में पारिवारिक सम्बन्धों में आत्मीयता, स्नेह, सदभाव आज भी कहीं न कहीं विद्यमान है जो शहरी परिवेश के पारिवारिक रिश्तों में कहानीकार को नहीं दिखाई पड़ता है। शहरी परिवेश में मनुष्य अपनी स्वार्थमयी प्रकृति के कारण दायित्वबोध भूलता जा रहा है यह कहानीकार रामदरश मिश्र की गहरी चिन्ता का विषय है जो इस कहानियों में बड़े मार्मिक रूप में विद्यमान है।

वस्तुत: इन कहानियों में चित्रित अनुभव संसार पराया नहीं लगता बल्कि अपना ही प्रतीत होता है। ऐसा लगता है जैसे मिश्र जी हमारे आस पास की ही कहानी लिख रहे हैं।

समाज के भीतर व्यक्ति रहता है और इसी मनुष्य से समाज बनता है। मनुष्य ठीक नहीं होगा तो समाज स्वस्थ कैसे रहे पाएगा। कहानीकार रामदरश मिश्र के चिन्तन के केन्द्र में है-मनुष्य। इस अभिशप्त मनुष्य की मुक्ति की गहरी तड़प कहानियों में सर्वत्र दिखाई पड़ती है। इसलिए स्वार्थपरक प्रवृत्तियों, टूटती राजनैतिक एवं सामाजिक धारणाओं के बीच वे शोषक और शोषित के रिश्तों की पहचान कराते है। जो पाठक को उसके अधिकारों के प्रति जागरुक बनाती है। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों के मध्य जो कुछ भी सुन्दर और असुन्दर है उसकी सच्ची तस्वीर इन कहानियों में खींची गयी है और जीवन को सुन्दर एवं बेहतर बनाने की संभावना भी इन कहानियों में की गई है।

रामदरश मिश्र की वैचारिक दृष्टि परिपक्व है और यह दृष्टि उधार ली हुई नहीं दिखाई देती है। विचार उनकी कहानियों को नई शक्ति प्रदान करते हैं। मनुष्य और उसके रिश्तों की कथा के

बीच-बीच में कहानीकार रामदरश मिश्र के विचार भी आते है। जो उनकी कहानियों के सृजन स्तर को ऊँचाई देते हैं। घर-परिवार के विभिन्न रिश्तों के विविध रंग-रूपों के बीच सामाजिक व्यवस्था की परेशानियों के द्वन्द्व को भी रामदरश मिश्र उभारते रहते हैं। आज के विषम परिवेश में विभिन्न विसंगतियों के बीच मनुष्य की छटपटाहट गहरा अवसाद लिए हुए है। कहानीकार जीवन में इन विषमताओं और असंगतियों जो जन्म देने वाली ताकतों को पहचानता है। यथार्थ की यह पहचान कराने वाली उनकी दृष्टि मार्क्सवाद से प्रभावित है। कहानीकार रामदरश मिश्र मनुष्य के दुख, अवसाद और विफलताओं के चित्रण में इन स्थितियों को जन्म देने वाले ऐतिहासिक कारणों की ओर भी संकेत करता है। पूंजीवादी और सांमतीय चरित्र से गरीब जनता आज भी शोषित हो रही है। सामाजिक असुरक्षा और आर्थिक संकटों के बीच 'गरीबी हटाओ' और 'समाजवाद' जैसे खोखले नारों से गरीब जनता का मोहभंग हो चुका है। 'एक वह' कहानी में ताऊ के माध्यम से कहानीकार इसी विचार की कलात्मक अभिव्यक्ति करता है। बेईमानी, भ्रष्टाचार और मूल्यहीनता के स्वर 'कहाँ जाओगे', 'गपशप', 'खण्डहर की आवाज', 'एक इन्टरव्यू उर्फ कहानी तीन शुतुरमुर्गों की' कहानियों में बड़े सजीव रूप में व्यक्ति हुए हैं।

प्रेमचंद ने समाज को सुधारने के लिए जो रास्ता दिखाया था रामदरश मिश्र की राह भी वही है। रामदरश मिश्र के कहानियों में समाज में बदलाव के लिए एक अलग प्रकार की तड़प है। कहानीकार रामदरश मिश्र की कहानियों में सामाजिक व्यवस्था के अन्याय के विरुद्ध जगह-जगह आवाज उठायी है। समाज में जो कुछ गलत हो रहा है उसे कहानियों के पात्र चुपचाप सहन नहीं करते बल्कि अपनी पूरी सामर्थ्य से उस अन्याय और अनीति का विरोध करते हैं। 'सर्पदंश' कहानी में हलवाहा गोकुल मुखिया के अत्याचार को पहले की तरह सहन नहीं करता बल्कि सम्पूर्ण शक्ति लगाकर विरोध का साहस जुटाता है। गोकुल का लड़का अपने पिता का बदला लेने के लिए दूसरे गाँव जाकर अपने जाति भाइयों को सूचना देता है और मुखिया के अन्याय पर चुप नहीं बैठ जाता है। 'जमीन' कहानी का हरिजन पात्र मोहन ठाकुर के खेत की मटर की छीमियाँ तोड़कर खा लेने पर ठाकुर द्वारा मार तो खा लेता है किन्तु वह यह मार अपराधी की भाँति नहीं खाता बल्कि आक्रोश और विरोध के भावों के साथ वह ठाकुर को देखता रहता है। इस प्रकार कहानियों में अन्याय के प्रति विरोध एवं विद्रोह के तीखे तेवर देखे जा सकते हैं।

रामदरश मिश्र की कहानियों में नारी समस्याओं के लिए गहरी चिन्ता है। नारी जीवन की अनेक समस्याएं हैं। कहानीकार रामदरश मिश्र की प्रगतिशील दृष्टि नारी को सच्ची मुक्ति की राह दिखाती है। नारी गाँव में हो अथवा शहर में उसकी समस्याएँ जटिल हैं। मिश्र जी ने इन कहानियों में नारी के विभिन्न रूपों के संश्लिष्ट यथार्थ की पहचान करवायी है और अपनी प्रगतिशील दृष्टि के स्पर्श से नारी चरित्रों में आकर्षक रंग भर दिए हैं। जो बहुत प्रभावशाली बन पड़े हैं। रामदरश मिश्र की एक महत्त्वपूर्ण कहानी है- 'एक औरत: एक जिन्दगी'। इस कहानी में गाँव में रहने वाली विधवा भवानी की कथा है। पति परेश के मरते ही वह धैर्य नहीं खोती है और अपनी अस्मत और

अपनी संतान के भविष्य के प्रति सचेत हो जाती है। कुछ ही दिनों बाद उसके ससुर कोदई भी मर जाते हैं मृत्यु के बाद तेरहवीं तक ग्रामीण औरतें उसे धर्म-कर्म और शोक संतप्त बने रहने के लिए कहती हैं पर वह सावधानी से तेरहवीं से पहले ही अपने खेतों को देख आती है, उनके प्रति सावधान हो जाती है कि कोई पट्टीदार खेतों को अपने नाम न लिखा ले अथवा कब्जा न कर ले। अपने छोटे-छोटे बच्चों को लेकर वह अपने खेतों में कुदाल चलाती है, सिंचाई करती है और इस प्रकार जीवन संघर्ष में हँसते गाते पूरी शक्ति से लगी रहती है। वह युवा नारी है इसलिए अपनी अस्मत की रक्षा भी करती है।

'आखिरी चिट्टी' की प्रभा 'सीमा' कहानी की सीमा, 'अतीत का विष' की सुषमा 'पशुओं के बीच' की अलेना, 'अकेला मकान' की जगरानी' ऐसे ही नारी पात्र हैं जो किसी न किसी विषमता और विसंगति से शिकर हैं किन्तु वे उस विसंगति और अत्याचार को चुपचाप सहन नहीं करते रहते बल्कि उससे मुक्त होने का जीवट प्रयास भी करते हैं। 'पशुओं के बीच' कहानी में अलेना नारी सरपंच सिमंगला के षड्यंत्रों को आसानी से सफल नहीं होने देती है। सरपंच सिमंगला अलेना के मकान के आधे हिस्से को बलपूर्वक छीन लेना चाहता है लेकिन अपने साहस व विवेक से वह सरपंच का मुकाबला करती है। कहानी में उसका विद्रोह कृत्रिम और अस्वाभाविक नहीं लगता। अलेना का विरोध थोपा हुआ अथवा आरोपित प्रतीत न होकर बड़ा विश्वसनीय और स्वाभाविक लगता है जो पूरी कहानी के बीच में से निखर का प्रकट होता है।

रामदरश मिश्र की कहानियाँ जिजीविषा का अद्‌भुत पाठ पढ़ाती है जो बहुत प्रेरक है। कहानीकार रामदरश मिश्र की सभी कहानियों के अध्ययन के पश्चात् यह तथ्य प्रकट होता है कि जीवन जैसा भी संगत या विसंगत है वह जीने के लिए है। उसे जीने लायक बनाया जा सकता है। इसलिए कहानियों में कोई भी नारी पात्र चाहे वह कैसी भी कठोर विषमता का शिकार क्यों न हो वह आत्महत्या नहीं करता। पुरुष पात्र भी आत्महत्या कहीं नहीं करते हैं। केवल एक कहानी 'इज्जत' में बाबू महेश सिंह की पतोहू (पुत्रवधू) अपने पति की चरित्रहीनता के कारण कुएं में गिरकर जान देना चाहती है किन्तु कुआँ सूखा होता है और वहाँ से वह सकुशल अशोक जैसे सज्जन व्यक्ति के सत्प्रयासों से बचा ली जाती है। रामदरश मिश्र जीवन में गहरी आस्था रखने वाले कहानीकार है इसलिए उनके चरित्रों को नैराश्य मृत्यु के पास तथा नहीं फटकने देता बल्कि जीवन संघर्ष की प्रेरणा देता है।

साम्प्रदायिकता का विष आजादी के बाद राजनीति के कारण अधिक फैलता गया है। रामदरश मिश्र इस समस्या के संताप की पहचान 'रहमत मियाँ', 'चक्र' और 'कर्फ्यू' कहानियां में करते है। 'चक्र' कहानी में कहानीकार हिन्दू-मुस्लिम को लड़ाने वाली शक्तियों का पर्दाफाश करता है और धर्म एक मजहब के रहनुमाओं को प्रगतिशील दृष्टि से प्रेरित करता है।

कहानीकार रामदरश मिश्र साम्प्रदायिकता की बात करने वालों को आधुनिक जीवन प्रवाह के विकास का शत्रु बताते हुए उन्हें नए ज्ञान एवं नवीन जीवन पद्धति के मानवीय पक्षों की पहचान

करवाता है।

स्त्री-पुरुष एक गाड़ी के दो पहिये हैं। स्त्री-पुरुष मिलकर ही एक परिवार को अस्तित्व देते हैं और अन्य पारिवारिक रिश्तों की बुनियाद भी करते हैं। कहानीकार रामदरश मिश्र की कहानियों में पुरुष और स्त्री पति-पत्नी की परम्परागत सुन्दर और आकर्षक तस्वीर लिए हुए हैं तो कहीं कहानीकार की प्रगतिशील दृष्टि से नयापन और स्वतंत्र व्यक्तित्व लिए हुए हैं। स्त्री पुरुष सम्बन्धों के पारम्परिक सबल पक्षों को यथार्थ रूप में स्वीकार करते हुए ये नवीनता के विरोधी नहीं है। गाँव का परिवेश हो अथवा शहर का परिवेश हो कहानीकार अपनी प्रगतिशील दृष्टि से स्त्री पुरुष सम्बन्धों के अनेक मानवीय प्रश्न उठाता है। 'बंसत का एक दिन' कहानी का परिवेश गाँव का है जिसमें ब्राह्म जयराम केवट जाति की लड़की फुलवा से प्यार करता है। सारा गाँव पर थूकता है। जयराम का चाचा उसे घर से निकाल देता है। लेकिन जयराम बेसहारा होकर अपने ही जैसी पीड़ित उपेक्षित फुलवा से चोरी-छिपे नहीं बल्कि निर्भीकता के साथ प्यार करता है। दोनों के भीतर प्यार की भूख एक जैसी है। जयराम पूरे समाज डटकर सामना करता है और समाज की इज्जत के ठेकेदारों का पर्दापाश करता है।

जीवन की अन्तरंग पहचान से साक्षात्कार कराते हुए कहानीकार सबल पक्षों को भी खोजता हुआ कहानी कहता है। कहानीकार रामदरश मिश्र परम्परा के प्राणवान तत्त्वों एवं मूल्यों की पहचान इन कहानियों में कराते हैं। 'लाल हथेलियाँ' कहानी में सुभाष गाँव के संस्कारों में पत्नी स्थूल शरीर वाली अपनी पत्नी ममता की उपेक्षा करके लाल-लाल हथेलियों वाली और शहरी चमक-चमक वाली ज्योत्स्ना की ओर आकर्षित हो जाता है। इस स्थिति का सामना करते हुए धीरे-धीरे ममता बीमार रहने लग जाती है और एक दिन मर जाती है। ममता की मृत्यु के पश्चात सुभाष को ज्योत्स्ना के वास्तिक स्वरूप का ज्ञान होता हैं बड़े बात के भौतिक वैभव में पली ज्योत्स्ना का सुभाष जैसे मामूली लेक्चरर के वेतन में जीना कठिन हो जाता है। ज्योत्स्ना दिन प्रतिदिन सुभाष के प्रति अनुदार होती जाती है। जिसके परिणाम स्वरूप सुभाष बीमार हो जाता है। लेकिन ज्योत्स्ना अपनी मस्ती में किसी प्रकार का व्यवधान पसंद नहीं करती और सुभाष की उपेक्षा करने लगती है। ऐसी परिस्थितियों में सुभाष को अपनी गाँव वाली ममता की याद आती है। इस प्रकार कहानीकार बाहरी चमक-दमक के नकली आकर्षण की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत करके भारतीय परम्परा के श्रेष्ठ गार्हस्थ्य-मूल्यों का महत्त्व स्पष्ट करता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि कहानीकार रामदरश की इन कहानियों में मानव जीवन के यथार्थ के अनेक रूप अभिव्यक्त हुए हैं। राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के अनेक संश्लिष्ट चित्र यहाँ विद्यमान हैं। राजनीतिक चेतना का यथार्थ जहाँ व्यवस्था की विकृतियों और भ्रष्टाचार का चित्र प्रस्तुत करता है वहां अर्थव्यवस्था, गरीबी, अभाव, बेकारी से जुड़े प्रश्न आर्थिक चेतना के जर्जर यथार्थ की अभिव्यक्ति करते हैं इसके साथ ही कहानीकार रामदरश मिश्र सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति करते हैं इसके साथ ही कहानीकार रामदरश मिश्र

सामाजिक यथार्थ के अन्य अनेक आयाम (जाति-पाँति की समस्याओं, साम्प्रदयिक समस्याओं, नारी की दयनीय स्थितियों स्वार्थपरता और शोषण मूलक समस्याओं) को जीवन रूप में इन कहानियों में उभारते हैं।

कहानी कला की दृष्टि से ये कहानियों अनुपम और बेजोड़ हैं। कहानीकार रामदरश मिश्र ने कहानी संरचना को आकर्षक शिल्प प्रदान किया है। मिश्र जी की कहानियों का कथानक हमेशा अपने परिवेश से जुड़ा रहता है और यथार्थ अनुभवों को रूपायित करता हुआ परिवेश के विभिन्न रंगों और रूपों को समेटते हुआ अपना आकार ग्रहण करता है। इन कथानकों में कहीं वे ग्रामीण विसंगतियों को लेकर कथा का ताना-बाना बुनते हैं तो कही शहरी परिवेश की समस्याओं का चित्रण करते चलते हैं। इन कथानकों में घटनाओं के घात-प्रतिघात भी हैं तो परिस्थितियों के तनाव भी दृष्टिगत होते हैं। परिस्थितियों और घटनाओं के बीच कथानक स्वयं निर्मित होता जाता है। इन विशेषताओं के कारण उनकी कहानियों का कथानक एकदम उनका निजी लगता है। मिश्र जी के इन कथानकों में अतीत और वर्तमान कभी दूर नहीं रहते है बल्कि साथ-साथ चलते हैं। वर्तमान और अतीत दोनों से जुड़कर ही रामदरश मिश्र कथानक गढ़ते हैं। पूर्व-दीप्ति पद्धति प्राय: उनकी कहानियों में दिखायी पड़ती हैं। 'माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो' कहानी में कहानीकार परदेश में रहते हुए अतीत में खो जाता है। वर्तमान से सीधे यह अतीत में पहुँचकर गाँव को देखता है जहां कुछ दिन पहले माँ की मृत्यु हो चुकी है और पूरे गाँव में अकाल फैला हुआ है।

रामदरश मिश्र की इन कहानियों में पात्र-वैविध्य है जो स्वाभाविकता लिए हुए है। कहानीकार रामदरश मिश्र की इन कहानियों के पात्र हमारे आस-पास के जीवन से जुड़े हुए पात्र हैं। गाँव से शहर तक फैली हुए जिन्दगी में जा रहे जनसाधारण में से ही वह पात्रों का चयन कर लेते हैं। ये पात्र कहानीकार के हाथों की कठपुतली नहीं बने हैं बल्कि इनका स्वभाविक विकास कहानियों में हुआ है। ये पात्र बहुत विश्वसनीय और स्वाभाविक लगते हैं। कहानीकार पात्र से ऐसा गहरा परिचय बनाते हैं कि वह जीवन्त हो उठता हैं। पात्र के मन में छिपे दर्द की कहानीकार बाहर तक खींच लाने में सफल हो जाता है। 'सीमा' कहानी में सीमा विकलांग लड़की है उसके पैर चल नहीं पाते। कहानी में डॉ. शर्मा उसे रेलिंग के सहारे खड़ी कर देते हैं। उसकी आँखें कुछ न कहकर अपनी असहायता के दर्द को बहुत कुछ कह देती हैं। मिश्र जी की कहानियों के अध्ययन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी कहानियों में एक भी पात्र ऐसा नहीं है जो उदासी, अजनबीपन और अविश्वसनीयता लिए सामने आता हो। ये पात्र विभिन्न परिस्थितियों के बीच जीवन संघर्षो से जूझते हुए समाज के आस-पास हमें आज भी दिखायी पड़ते हैं।

रामदरश मिश्र की इन कहानियों में संवाद योजना सशक्त है। मिश्र जी इन कहानियों में पात्रों के वार्तालाप और संवाद बहुत स्वाभाविक, संक्षिप्त एवं आकर्षक हैं। रामदरश मिश्र नाटकीय शैली का प्रयोग भी करते हैं इसलिए संवादों में अद्‌भुत आकर्षण उपत्न्न हो गया है। गाँव परिवेश के संवादों में आंचलिक तत्त्व दिखायी पड़ते हैं जबकि शहरी परिवेश की कहानियों के संवाद विशुद्ध खड़ी बोली

में हैं। 'एक वह' कहानी में ताऊ शहर में रहते हुए भी मजदूरों से जो संवाद करता है। वह लोक भाषा की सरलता लिए हुए हैं।

रामदरश मिश्र में कथा कहने की अद्‌भुत शक्ति हैं। रामदरश मिश्र की कहानियों की भाषा में ग्रामीण अंचल की भाषा और शहरी परिवेश की परिनिष्ठित खड़ी बोली का अद्‌भुत मिश्रण है। अंचल विशेष के पात्र अपनी बोली में ही बोलते हैं जो बहुत सहज एवं स्वाभाविक लगती है। ग्राम जीवन की लोक संस्कृति को व्यक्त करने वाली यह गंवई भाषा बड़ी सजीव है। 'एक अधूरी कहानी' की भौजी सोहागी और 'कर्ज' कहानी के भीखू की भाषा आंचलिक प्रयोगों के कारण बहुत सजीव बन गयी है। मिश्र जी की इन कहानियों की भाषा में उनके कवि रूप के कारण काव्यात्मकता भी आ गयी है जो कहीं सम्प्रेषणीयता का संकट पैदा नहीं करती। इन कहानियों की शैली मुख्य रूप से वर्णनात्मक है। 'कर्ज' 'लाल हथेलियाँ', 'अकेला मकान' जैसी कहानियों में नाटकीय शैली का प्रभाव अधिक है। 'एक इन्टरव्यू उर्फ कहानी तीन शुतुरमुर्गो की' में फंटेसी है। 'बंसत का एक दिन' कहानी में काव्यात्मक शैली के दर्शन होते हैं।

देश काल और वातावरण की दृष्टि से की ये कहानियाँ बेजोड़ हैं। कहानीकार रामदरश मिश्र की कहानियों में परिवेश का विशेष महत्त्व है। इन कहानियों में गाँव और शहर का सम्पूर्ण परिवेश समाया हुआ है। गाँव के घर, परिवार, रीति-रिवाज, आचार-विचार, पर्व-त्यौहार, उत्सव-मेला, खेत-खलिहान, नदी-तालाब, पशु-पक्षी, आचार-विचार, पर्व-त्यौहार, उत्सव-मेला, खेत-खलिहान, नदी-तालाब, पशु-पक्षी, वृक्ष, बाढ़, सूखा आदि सभी कुछ बहुत सजीव रूप में उपस्थित हैं। वस्तुतः गाँव और शहर का परिवेश ही मिश्र जी की कहानियों की आधार शिला है। 'माँ, सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो' कहानी में सम्पूर्ण प्रकृति का चित्र, माँ का चित्र, उसके वात्सल्य का चित्र, गरीबी का चित्र, अकाल का चित्र आदि में परिपूर्ण परिवेश हमारे सामने साकार हो उठता है। कहानी पढ़ते हुए लगता है जैसे हम उस परिवेश को सामने देख रहे हैं।

इस प्रकार कहानीकार रामदरश मिश्र की ये कहानियाँ अपने शिल्प विन्यास की दृष्टि से आकर्षक बन पड़ी हैं।

अन्त में यह कहा जा सकता है हिन्दी कहानी को कहानीकार रामदरश मिश्र ने एक नयी दिशा प्रदान की है। मिश्र जी की कहानियाँ संवेदना और अपनी निजी शिल्प की दृष्टि से हिन्दी कहानी के क्षेत्र में अपनी अलग पहचान रखती हैं। मिश्र जी की कहानियाँ वस्तुतः जीवन की सच्चाई की कहानियाँ हैं जो हमारे हृदय में सुप्त संवेदना को जगाती ही नहीं है अपितु उस वस्तु जगत की सँश्लिष्ट जटिलताओं से भी साक्षात्कार कराती हैं जिनके घात प्रतिघात से ये संवेदनाएँ जन्म लेती हैं। इसीलिए रामदरश मिश्र की इन कहानियों में जीवन यथार्थ का चित्रण ही नहीं भविष्य की संभावनाओं के संकेत भी निहित हैं।

# 'निशान' के बहाने

विजय निकोर

**मानो हवा का कोई झोंका धीरे से आकर मुझको मादक सुगन्ध से छू गया और उसने मुझको प्रेरित किया कि मैं ढूँढूँ उस फूल को, उस उपवन को, जहाँ से यह सुगन्ध आई थी ... ढूँढूँ उस बादल को जिसकी बारिश की बूंदें मुझको इस प्रकार सराबोर कर गई थीं।**

**मैं अभी तक विश्वास नहीं कर पाता कि कोई इतना सरल, इतना मिलनसार भी हो सकता है। शायद खादी का कुर्ता और पापलीन का पाजामा पहने हुए वह दरवाजे पर थे ... सरलता उनकी आँखों से, उनकी मुस्कान से, उनके ऊँचे कद से छलक रही थी। उन्होंने मेरा परिचय अपनी पत्नी सरस्वती जी को दिया जो मुझको मेरी बड़ी बहन-सी लगीं**

लगभग 53 वर्ष हुए जब 'धर्मयुग' साप्ताहिक पत्रिका के पन्ने पलटते हुए किसी अश्य शक्ति नें अचानक मुझको रोक लिया, और मुझे लगा कि मेरी अंगुलियों में किसी एक पन्ने को पलटने की क्षमता न थी।

आँखें उस एक पन्ने पर देर तक टिकी रहीं, और मात्र 8 पँक्तियों की एक छोटी-सी कविता को छोड़ न सकीं। वह कविता थी 'निशान' जो 53 वर्ष से आज तक मेरे स्मृति-पटल पर छाई रही है, और जिसे मैं अभी भी अपने परम मित्रों से आए-गए साझा करता हूँ...

हाँ, यह मकान बनकर
तिमँजिला-चौमँजिला हो गया
इसकी सीमेंट सूखकर कड़ी हो गई
लेकिन उस दिन
तुमने जो मजाक-मजाक में
गीली सीमेंट पर
मुलायम पाँव रख दिया था
उसका निशान ज्यों का त्यों है

हाँ, सरलता में डूबी यह छोटी-छोटी पँक्तियाँ ... मानो हवा का कोई झोंका धीरे से आकर मुझको मादक सुगन्ध से छू गया और उसने मुझको प्रेरित किया कि मैं ढूँढूँ उस फूल को, उस उपवन को, जहाँ से यह सुगन्ध आई थी ... ढूँढूँ उस बादल को जिसकी बारिश की

बूंदें मुझको इस प्रकार सराबोर कर गई थीं।

यह बात सन 1962 की है जब मैं 20 वर्ष की आयु में 'वल्लभ-विद्यानगर, गुजरात' में इन्जिनीयरिन्ग का विद्यार्थी था और कालेज की ओर से हमारी कक्षा को मुंबई की फैक्ट्रियों को देखने का अवसर प्राप्त हुआ। छोटी-सी बस और रेल का सफर मिलाकर हमें मुंबई पहुँचने में लगभग 11 घंटे लगे। यात्रा की थकान के कारण पहले दिन हम सभी को अवकाश दिया गया, और मैं फूला नहीं समाया, क्यूँकि मैंने झट तैयार होकर धर्मयुग के कार्यालय जाने की ठानी।

मुंबई की बड़ी-बड़ी ऊँची इमारतें, चोड़ी सड़कें, भीड की चहल-पहल ... इस सब से चकित कई सड़कों के पार मैं धर्मयुग की Illustrated Weekly of India की बिलडिंग पर पहुँचा। दो लोगों ने मुझ अनजान को अंदर जाने से मना कर दिया, और फिर संयोगवश एक कर्मचारी को मेरे भोले-बच्चे-से आग्रह पर दया आ गई, और वह मुझको धर्मयुग के उपसंपादक के पास ले गया। मैंने उनको धर्मयुग का वह पन्ना दिखाया जिस पर छपी 'निशान' कविता से मैं मुग्ध था, और मैंने उनसे इस कविता के रचनाकार का पता देने के लिए निवेदन किया। पता चला कि इसके लेखक-कवि डा. रामदरश मिश्र जी उन दिनों अहमदाबाद 'गुजरात' में जेवियर कालेज में हिन्दी के प्रोफेसर थे। इससे अच्छी बात और क्या हो सकती थी कि मेरा कालेज भी गुजरात में था, और मेरे यहाँ से बस-रेल की यात्रा मिलाकर अहमदाबाद के लिए केवल 4 घंटे लगते थे।

मैंने डा0 मिश्र को पत्र लिखा और बताया कि मैं उनकी कविता 'निशान' से प्रभावित हूँ, और यदि वह मुझसे, 20 वर्ष के अनजान विद्यार्थी से, मिलने के निवेदन को स्वीकार कर सकें तो आभारी हूँगा। कुछ ही दिनों में उनका पोस्ट-कार्ड आया, उसमें उन्होंने घर का पता दिया, और कहा कि किसी भी रविवार को उनसे मिलने आ सकता हूँ ... एक रविवार मैं अहमदाबाद की ओर चल दिया, और ढूँढते-फिरते उनके घर तक पहुँचा।

मैं अभी तक विश्वास नहीं कर पाता कि कोई इतना सरल, इतना मिलनसार भी हो सकता है। शायद खादी का कुर्ता और पापलीन का पाजामा पहने हुए वह दरवाजे पर थे ... सरलता उनकी आँखों से, उनकी मुस्कान से, उनके ऊँचे कद से छलक रही थी। उन्होंने मेरा परिचय अपनी पत्नी सरस्वती जी को दिया जो मुझको मेरी बड़ी बहन-सी लगीं 'मैं 53 वर्ष से उनको भाभीजी ही बुलाता हूँ'।

हर चीज में सरलता प्रभावशाली थी... पलंग पर चादर, एक छोटी-सी मेज, और सामने के शैल्ज पर मानों आपस में संवाद करती हुई कितनी सारी किताबें और किताबें। पलंग पर बैठते ही सीमेंट के फर्श को देखते मेरे चेहरे पर कुछ अजीब-सी मुस्कान ठहर गई जो कुछ सैकंड के लिए मेरे ओंठों के कोरों पर टिकी रही। मेरी इस मुद्रा से अचंभित डा. रामदरश जी ने एकाएक पूछा....

क्या हुआ ?

'आपका यह सीमेंट का फर्श...

'अरे' 'उनकी उपरोक्त कविता के संदर्भ में'

'आपकी यह कविता ही तो मुझको वल्लभ-विद्यानगर से मुंबई 'धर्मयुग' और अब यहाँ आपके पास अहमदाबाद ले आई है।

अरे, आप भी...और वह, सरस्वती भाभी और मैं एक साथ हँस पड़े। चुप्पी की दीवार टूट गई।

यह चुप्पी की दीवार कुछ ऐसी टूटी कि आज 53 वर्ष उपरान्त भी भाई रामदरश जी, सरस्वती भाभी और मैं जब भी मिलते हैं ऐसे हँसते हैं, इतना हँसते हैं कि जैसे हम सभी गली में 'बारिश में भीगते बच्चे हों' या मैदान में पेड़ के नीचे 'आम के पत्ते' से खेल रहे हों।

पहली बार मिले थे फिर भी हवा में कुछ था कि शीघ्र मैं उनको अपना-सा लगा, ... भाभीजी पहले चाय और फिर खाना ले आईं... और भाई रामदरश जी अपनी आवाज में मुझको कविताएँ पढ़कर रिझाते रहे। देखते ही कुछ घंटे बीत गए।

बातें, बातें और बातें... जब बेकार की बातें भी काम की बातें लगती हैं तो शायद अपनत्व बढ़ जाता है। मिश्र जी से मिलने के कुछ घंटे सदैव इतने मूल्यवान लगते हैं कि समय के जाते-जाते मानो हाथ से कुछ छूट जाएगा, कि कुछ अनकहे का अरमान रह जाएगा।

ऐसी ही हँसी के माहोल में 2009 में जब मैं, मेरी जीवन साथी नीरा जी, और सपुत्र आशीष भारत-यात्रा के दोरान में मिश्र जी से दिल्ली मिलने गए तो बातों-बातों में उनकी उसी कविता 'निशान' को याद करते हुए मैंने उनसे पूछा.....

भाई साहब, एक बात पूछूँ... भाभी जी के सामने?

हाँ, हाँ, पूछिए न, 'हँसते हुए' वह तो हमेशा पास ही रहती हैं

आपने कई वर्ष हुए जब वह कविता निशान लिखी थी, तब वह किस लड़की के खयालों में लिखी थी?

मिश्र जी के चेहरे पर सदैव समान एक बच्चे-सी लहराती मुस्कान आ गई, पर इससे पहले कि वह कुछ कहते, भाभी जी हँसते हुए तुरंत बोल पड़ीं,

अरे मेरे भाई, वह मैं ही हूँ, वरना कौन इनसे शादी करती, कौन इनके साथ इतने वर्ष रहती ... उनका यह कहना ही था कि हम सभी जोर की हँसी में लोट-पोट रहे थे .. हँसते गए, हँसते ही गए।

इन 53 वर्षों में बहुत बातें करीं हैं भाई रामदरश मिश्र जी से, बहुत हँसे हैं हम एक संग, परन्तु इस हँसी के पीछे कुछ और है जिसने अब तक हमारा परस्पर लगाव बनाए रखा है। वह है हम दोनों के हृदय में जीवन-अनुभवों के प्रति मार्मिक संवेदना, जिसके लिए हमें शब्दों की जरूरत नहीं होती, भावनाएँ स्वयं छलकती आती हैं। इस अपनत्व का एक कारण और भी है ... 62 पुस्तकें प्रकाशित होने के बाद भी राम दरश मिश्र जी में बसी हुई गाँव की सोंधी मिटी, और नस-नस में समाई सरलता जो आजकल मिलनी दुर्लभ है।

आलेख

# जीवन जगत के विविध छवियों की चित्रात्मक अभिव्यक्ति

## डॉ॰ रामदरश मिश्र के यात्रा-वृत्तान्त

डॉ. अंजलि देवी

यात्रा-वृत्तान्त में व्यक्ति यात्रा के स्थानों को अनुभव की कला से प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त उसमें सौंदर्य भावना का विकास होता है जो सांस्कृतिक आदान-प्रदान के लिए महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। "सृजनात्मक दृष्टि से यात्रावृत्त का विस्तार अधिक होता है और कोई भी रचनाकार कथा शैली में भी यात्रावृत्त लिख सकता है। इसमें जीवन से जुड़े सभी विषयों का चित्रण किया जाता है जिसमें संस्कृति और सभ्यता के प्रतिमानों का विशेष रूप से समावेश होता है। साहित्य में यात्रावृत्त इस प्रकार लिखा जाता है कि पर्यटन की मार्गदर्शिका न लगे बल्कि उसका स्वरूप एक सृजनात्मक रचना का हो।"

**रामदरश मिश्र जी ने यात्रा-वृत्तों में व्यक्तियों, घटनाओं, दृश्यों और स्थितियों के बाह्य संश्लिष्ट बिंबविधान का बड़ा ही सुंदर चित्रण किया है। मानवीयता का व्यापक अनुसंधान उनका लक्ष्य प्रतीत होता है। उन्होंने यात्रा के दौरान देखे हुए तमाम व्यक्तियों, घटनाओं और दृश्यों के सर्जनात्मक चित्र प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने अपने यात्रा अनुभवों को अपनी विचार-धारा से अभिप्रेरित होकर लिपिबद्ध किया है जिसमें उन्होंने साधारण से साधारण दीखने वाले चरित्र को भी अपने शब्दों के माध्यम से विशेष बना दिया है।**

उपर्युक्त कथन में यात्रा वृतांत के विस्तृत विस्तार से होने वाले साहित्यिक लाभ को दर्शाया गया है। यात्रा वृतांत में जीवन से जुड़े हुए प्रत्येक विषय का चित्रण किया जाता है जो संस्कृति और सभ्यता से परिपूर्ण होते हैं। इसके अतिरिक्त रचनाकार के अपने स्वभाव की विशेषताएँ भी यात्रा वृतांत को रोचक एवं आत्मीयता बना देती हैं। डॉ. गोविंद त्रिगुणायत के अनुसार- "साहित्यिक यात्रा वर्णनों में रचनाकार की प्राकृतिक विशेषताएँ प्रतिबिंबत मिलती हैं। उसकी फक्कड़ता, घुमक्कड़ता, मस्ती और उल्लास विवरण में प्राण-प्रतिष्ठा कर देते हैं।" रचनाकार के स्वभाव पर आधारित शुद्ध-सौम्य-सी दृष्टि उसके यात्रावृत्त को अत्यंत आत्मीय बना देती है। यात्रा करने के अपने

उद्देश्य होते हैं, उनमें मनोरंजन, तीर्थ-दर्शन, भ्रमण, प्रकृति-सौंदर्य निरीक्षण, मिलना-जुलना, धर्म-कार्य आदि प्रमुख माने जाते हैं। प्रो. राजेन्द्र प्रसाद के अनुसार- "ये यात्राएँ विभिन्न चित्ताकर्षक दृश्यों, भवनों का ज्ञान मात्र ही नहीं कराती हैं, बल्कि लेखक को अनेक कड़वे-मीठे अनुभवों का आस्वादन भी करना पड़ता है। यात्रा के दौरान लेखक को साहस, संघर्षशीलता, प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल बना लेने की क्षमता, आकस्मिक विपदाओं में धैर्य धारण करने की आवश्यकता पड़ती है। उसके इन गुणों को देखकर पाठक उसे प्यार करने लगता है और अपनी जिजीविषा को तुष्ट करता है।" लेखक के भीतर समाहित ये चारित्रिक गुण पाठक पर गहरा प्रभाव छोड़ते हैं।

मुख्य रूप से यात्रा-साहित्य में रूचि रखने वाला लेखक, शब्दों की चित्रात्मकता से उस स्थल का ऐसा सजीव चित्र उपस्थित करता है, जैसे हम यात्रा-साहित्य न पढ़कर स्वयं अपनी आँखों से सब कुछ देख रहे हों। यह एक उच्च कोटि के यात्रा-साहित्य लेखक का मुख्य गुण होता है।

रामदरश मिश्र जी ने यात्रा-वृत्तों में व्यक्तियों, घटनाओं, दृश्यों और स्थितियों के बाह्य संश्लिष्ट बिंबविधान का बड़ा ही सुंदर चित्रण किया है। मानवीयता का व्यापक अनुसंधान उनका लक्ष्य प्रतीत होता है। उन्होंने यात्रा के दौरान देखे हुए तमाम व्यक्तियों, घटनाओं और दृश्यों के सर्जनात्मक चित्र प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने अपने यात्रा अनुभवों को अपनी विचार-धारा से अभिप्रेरित होकर लिपिबद्ध किया है जिसमें उन्होंने साधारण से साधारण दीखने वाले चरित्र को भी अपने शब्दों के माध्यम से विशेष बना दिया है। प्रत्येक संवेदनात्मक आत्मीय घटनाओं या फिर दृश्यों को मिश्र जी ने व्यापक विस्तार के साथ दर्शाया है जिसमें उनकी अद्भुत सर्जनात्मक क्षमता व्यक्त हो उठी है।

किसी भी यात्रावृत्त में, चाहे वह देश का हो या परदेश का, व्यक्तियों का वर्णन होना स्वाभाविक होता है। मिश्र जी के यात्रा वृत्तांत में देश-विदेश-परदेश के नर-नारियों के प्रति रागात्मक संबंध परिपुष्ट होते हैं। यात्रा के मनोरंजन मूलक तत्व को उन्होंने अपनी सभी यात्राओं में प्रयोग किया है, जिसका एक उदाहरण इस प्रकार है- "हम बैठे तो उनमें से एक लड़की उठी और धीरे-धीरे हमारी ओर आई। अन्यमनस्क भाव से खड़ी हो गयी आदेश लेने के लिए। हमने मीनू देखा, कुछ समझा, कुछ नहीं समझा। जुबानी पूछा कि क्या चीजें हैं?उसने बताया- कुछ समझ में आया, कुछ नहीं आया। बहरहाल, हमने निरापद-सी लगने वाली कुछ चीजों के आदेश दिए। डा. टी.एन. सिंह रट लगाए हुए थे कि उन्हें शाकाहार चाहिए। भोजन आने के बाद वे कहने लगे- शाकाहारी है न। लड़की मुस्कराई और बहुत अबूझ भाव से बोली, हाँ। वह चली गई तो डा. वी.के. सिंह, टी.एन. सिंह पर बिगड़ पड़े, "तुम इस तरह परदेश में हम लोगों की हँसी कराओगे। जब एक बार शाकाहार का आदेश दे दिया तो बार-बार यह पूछने की क्या जरूरत कि शाकाहार है न, शाकाहार है न।"

मिश्र जी ने अपने प्रत्येक छोटे-छोटे अनुभव को भी लिपिबद्ध करके उसे रोचक बना दिया है। उपर्युक्त उदाहरण में डॉ. टी.एन. सिंह के साथ मिश्र जी को चीन यात्रा के समय में हास्य पद एवं

मनोरंजक रहा। डॉ. टी.एन. सिंह पूर्ण शाकाहारी हैं। चीन की इस यात्रा में डा. वी.के. सिंह भी मिश्र जी के साथी रहे हैं।

मिश्र जी की काशी-यात्रा सुख-दु:ख के अनुभवों से उगी है। काशी के महान कवियों एवं अन्य कई साधारण व्यक्तियों ने भी उन्हें बहुत प्रभावित किया है। "शिवमंगल सिंह सुमन, शंभुनाथ सिह, त्रिलोचन शास्त्री, ठाकुर प्रसाद सिंह जैसे कवियों के साथ अनेक नये कवि जुड़े थे। नई कविता का दौर था किंतु नई कविता गीत-विमुख नहीं हुई थी। नई कविता के गीतों में गहरी लोकोन्मुखता थी। लोक परिवेश की ताजा हवाएँ इन गीतों में अलग शक्ति और स्वाद भर रहीं थीं। काशी के नए कवियों ने इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया। त्रिलोचन के गीत तो लोकरस से पूर्ण थे ही, शंभुनाथ सिंह भी इस ओर मुड़ रहे थे। 'मन का आकाश उड़ा जा रहा पुरवैया धीरे बहो' तथा अन्य कई गीत उनकी नई दिशा की सूचना दे रहे थे। ठाकुर प्रसाद सिंह के गीतों का अपना रंग था और जब 'पाँच जोड़ बांसुरी' के गीत सामने आये तो गीत में एक क्रांति-सी हो गई।"

मिश्र जी शिवमंगल सिंह सुमन, शंभुनाथ सिंह, त्रिलोचन शास्त्री, ठाकुर प्रसाद सिंह के काव्यात्मक गुण से बहुत अधिक प्रभावित हुए। इन सभी की कविताओं और गीतों में गहरी लोकोन्मुखता छुपी है जो लोक परिवेश की ताजा हवाओं के साथ मिश्र जी के मन को बराबर छूती रही।

घटनाएँ प्राय: सत्य होती हैं और वर्णित व्यक्ति या वस्तु के चरित्र का परिचय देती हैं। उनकी यात्राओं का संपूर्ण जीवन-दर्शन इनमें रूपायित है। छोटी से छोटी घटना भी लिपिबद्ध होकर महत्वपूर्ण हो गई है। जिसका एक उदाहरण इस प्रकार है-

"पतले तार पर दोनों ओर से दो युवक अपने ऊपर एक के बाद एक चार-चार व्यक्तियों को उठाए साइकिल चला रहे थे, आगे जाते थे और पीछे लौट आते थे। मैं भीतर-भीतर दर्द से तड़प रहा था, किंतु सर्कस मुझे इस दर्द के बावजूद अपने से बाँधे हुए था। सर्कस समाप्त हुआ तो दर्द बढ़ गया और फिर आतिथेय प्रोफेसर ने पूछा कि दर्द कैसा है?"

कोरिया की यात्रा के समय कान और दाँत के अकस्मात दर्द ने मिश्र जी को अत्यंत परेशान कर दिया था। इसके अतिरिक्त प्रो. लिम यंग ने अस्वस्थता के कारण वापस भारत आने पर भी आपत्ति जताई क्योंकि एक अतिथि अपने समय से पहले इसलिए लौट जाए कि वह उनके देश में अस्वस्थ है तो यह उस देश के लिए लज्जा और अपमान की बात है।

ठाकुर प्रसाद जी मिश्र जी के बहुत अच्छे मित्र थे। अकस्मात हुई उनकी मृत्यु ने मिश्र जी को बहुत आहत किया। उदाहरण दृष्टव्य है-"हम वहाँ से निकले तो भाभी जी का वाक्य बार-बार टकराने लगा- 'कैसे मिले आइल हव?' कितना बड़ा दर्द था इसमें, कितनी बड़ी व्यंजना थी इसकी?सचमुच, मैं किससे मिलने आया था? जिससे मिलने आया करता था वह तो अनुपस्थित है, अब सदा के लिए अनुपस्थित है। यह घर, यह परिवार सब उसी के कारण तो हम सबका घर-परिवार था। भाभी भी जानती थीं कि हम उनके बहाने उसी से मिलने आये हैं, उसी की अनुपस्थिति का दर्द महसूस करने आये हैं।

प्यांगयांग की यात्रा में प्रकृति में डूबे मिश्र जी के लिए भाषा का संकट बहुत बड़ा रहा है। प्रकृति के दृश्यों के बीच-बीच में दुभाषिका अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग उनकी एकाग्रता को तोड़ता रहा है। उदाहरण दृष्टव्य है- "मैं ज्यों ही परिवेश की बिखरी हुई शोभा में डूबता, कोई न कोई सवाल मुझसे आ टकराता। यह कम कष्टकर इसलिए होता था कि मुझे दुभाषिए की अंग्रेजी समझने के लिए बहुत सावधान रहना पड़ता था। दुभाषिया जी थोड़ा-सा मेरी ओर मुड़ते और अपनी दबी हुई अंग्रेजी मेरी ओर सरका देते। मैं उसे समझने और उत्तर देने में उलझ जाता और प्रकृति से जुड़ता हुआ मेरा तार टूट-टूट जाता।" प्रकृति प्रेमी लेखक जहाँ कहीं प्रकृति को बिखरे हुए देखता है, वह उसी में रम जाता है। बाहरी देश हो या विदेश, चारों ओर प्रकृति का अपार सौंदर्य मिश्र जी को आकर्षित करता रहा है।

मिश्र जी के यात्रावृत्तांतों में दृश्यों के चित्रण मनोरंजनमूलक होने के साथ ही साथ सामाजिक विचारमूलक भी हैं। संवेदनशील कवि हृदय बार-बार इन दृश्यों को सजीवता प्रदान करता रहा है। कहीं सामाजिक, कहीं राजनीतिक, कहीं आर्थिक, कहीं प्रकृति का विराट सौंदर्य इन दृश्यों में उभरकर पाठक को भी अपने साथ बाँध लेता है।

लेखक का सामान्य जन-जीवन के प्रति लगाव यहाँ भी दिखाई पड़ता है लेकिन कोरिया की अनुशासन प्रियता उन्हें स्थान-स्थान पर प्रभावित करती रही है। चाहे वह सर्कस का भवन ही क्यों न हो- "सर्कस शुरु हुआ, कोरिया के अनुशासन से मैं अभिभूत था। हर जगह एक अनुशासन। सर्कस एक बहुत बड़े भवन में हो रहा था जो बनाया ही इस उद्देश्य से गया था। हाल ऊपर-नीचे भरा हुआ था, लेकिन कहीं कोई शोर नहीं था। एक अनुशासित सन्नाटा फैला हुआ था। इस सर्कस की एक विशेषता यह थी कि केवल मनुष्य ही इसके पात्र थे, हाथी, घोड़े, बाघ आदि जानवर नहीं। मनुष्य ही अपने हैरतअंगेज कारनामे दिखा रहे थे। गठिन मांस-पेशियों वाले फुर्तीले और संतुलन के स्वामी लड़के और लड़कियों के शारीरिक करतब पूरे वातावरण को मन का एक छंद बनाये हुए थे।"

उपर्युक्त उदाहरण में अनुशासन के साथ प्रारंभ हुए सर्कस के दृश्य ने भी मिश्र जी को बहुत अभिभूत किया। केवल मनुष्य के पात्रों द्वारा प्रस्तुत सर्कस के हैरतअंगेज कारनामों ने उन्हें उनके कान के दर्द के साथ भी बाँध रखा था। मिश्र जी प्रकृति प्रेमी रहे हैं। प्रकृति का विराट सौंदर्य उन्हें कहीं भी अपनी ओर आकर्षित कर लेता है।

मिश्र जी ने अपने आासपास का परिवेश देखा और भोगा है। सामान्य जन-जीवन से उनका लगाव बचपन से बना रहा है। अत: उनके यात्रा-वृत्तांतों में भी जीवन जगत की अनेक स्थितियों, विसंगतियों का चित्रण स्वभाविक ढंग से हुआ। लेखक ने अपने यात्रावृत्त में देश-विदेश की सामाजिक राजनीतिक, आर्थिक स्थिति को अत्यंत प्रामाणिकता से उभारा है।

आज के जीवन में चारों ओर अवसादमय वातावरण फैला हुआ है। मिश्र जी ने सामाजिक परिवेश की कुंठा, चिंता, निराशा के प्रति अपने लेखन दायित्व का निर्वाह किया है। उन्होंने देश, विदेश की सामाजिक स्थिति को अपने यात्रावृत्तों के माध्यम से मुखर किया है। साथ ही लोक प्रेरित सादगी और स्वस्थ सामाजिक चेतना से सम्प्रक्त सांस्कृतिक और मानसिक परिष्कार को भी

लिपिबद्ध करके महत्वपूर्ण बनाया है। भारतीय चिंतन की निरंतरता, गहरी मानवीय संवेदना और सहज अनौपचारिक अभिव्यक्ति उनके यात्रावृत्तों का निजी वैशिष्ट्य है। कुछ उदाहरणों के माध्यम से उनके यात्रावृत्तांतों में व्यक्त सामाजिक स्थितियों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है-

"मेरे मन में चीन को लेकर कोई भला या बुरा आग्रह नहीं रहा है। यदि यह देश तानाशाही के रास्ते अपना विकास कर रहा है तो करे, यह उसका मामला है। भारत यदि जनतांत्रिक तरीके से विकास कर रहा है तो इसे करना ही चाहिए। यह हमारा अपना मामला है। दोनों के अपने गुण अवगुण हैं।"

मिश्र जी सचेतन व्यक्तित्व वाले प्रबुद्ध लेखक हैं, अत: उनके यात्रावृत्तांतों में सामाजिक यथार्थ का उभरना सहज स्वाभाविक है। देश हो या विदेश, उन्होंने अपने यात्रा वृतांतों, समाज की स्थिति का अत्यंत महत्वपूर्ण चित्रण किया है। उदाहरण दृष्टव्य है- "मैं एक बात सोच रहा था कि अपने देश से जो लोग यहाँ आते हैं वे यहाँ के वातावरण में निहायत अनुशासित दिखाई पड़ते हैं। यानी यहाँ की अनुशासित जीवन पद्धति में वे ढल जाते हैं। तब प्रश्न यही होता है कि लोग बुरे नहीं होते हैं, व्यवस्था बुरी होती है। भारत में भ्रष्ट व्यवस्था ने जीवन के हर क्षेत्र में जो भ्रष्टाचार, अराजकता और अनुशासनहीनता फैला रखी है, उसी का परिणाम है कि वहाँ के आदमी नियम और कानून को ठेंगा दिखाते दिखाई पड़ते हैं। वे ही विदेशों में जाकर वहाँ की समाज व्यवस्था के सुचारु संचालन के साधन बन जाते हैं।" राजनीति समाज का महत्वपूर्ण अंग है। सामाजिक व्यवस्था के बिखरने के कारण राजनीति का विस्तार और भी व्यापक होता जा रहा है। प्रत्येक क्षेत्र राजनीति की गहरी चाल में फंसा हुआ प्रतीत होता है।

मिश्र जी के यात्रावृत्तों में राजनीति का पुट भी बार-बार देखने को मिलता है। व्यवस्था, विसंगति, मानवीय नियति से जुड़े मुद्दे राजनीतिक गिरावट के साथ प्रस्तुत हैं। स्थान-स्थान पर पूँजीपतियों द्वारा कराये गए राजनीतिक कार्य देखने को मिलते हैं। साहित्यजगत में व्याप्त राजनीति पर प्रकाश डालते हुए मिश्र जी कहते हैं-

"आप में दमखम हो तो शिष्टमंडल में सम्मिलित होने के प्रतियोगी बनिये, टिप्स भिड़ाइए, दूसरों को लंगी मारिये, नेताओं की खुशामद कीजिए या किसी बड़े नेता के हो लीजिए। अपने आप आपको कौन भेजेगा?मुझे मालूम है कि मॉरिशस में होने वाले विश्व हिंदी सम्मेलन में जाने के लिए लोगों ने कैसे-कैसे तिकड़म किए और हिंदी प्रचारक, हिंदी के अफसर तथा राजनेता होने के नाम पर कैसे-कैसे बौने वहाँ गए।"

उत्तरी कोरिया की यात्रा के प्रारंभ में लेखक ने इसी राजनीति का वर्णन किया है। हिंदी साहित्य से जुड़े छोटे-बड़े लेखकों में भी राजनीति का प्रवेश हो गया है। विदेश के किसी साहित्य सम्मेलन या शिष्टमंडल में शामिल होने के लिए कितनी तिकड़मों का सहारा लेना पड़ता है। एक साहित्यकार का लेबल खरीदने वाला व्यक्ति यदि राजनीति में शामिल हो तो उसे किसी भी विदेशी सम्मेलन में जाने का अवसर आसानी से मिल जाता है।

राजनीति के विस्तार से प्रत्येक क्षेत्र में होने वाला विभाजन अत्यंत पीड़ादायी है किंतु देशों का विभाजन आत्मीय विभाजन कराने में कभी सफल नहीं हो सकता। उदाहरण दृष्टव्य है- "इसलिए इस प्रवास में हमारी ही भाषा बोलने वाले ये पड़ोसी पाकिस्तानी और उनकी भाषा बोलने वाले हम एक दूसरे की ओर तेजी से खिंचे। एक दूसरे का हालचाल पूछा, शहरों के मिजाज पूछे और बड़ी गहराई से यह अनुभव किया कि हम तो एक ही हैं। राजनीति ने हमें अलग कर दिया, किंतु क्या हम सचमुच अलग हो पाए हैं?क्या राजनीतिक तालमेल से दो देशों के लोग भावनात्मक स्तर पर भी एक हो सकते हैं।"

मिश्र जी के यात्रावृत्तों में जहाँ एक ओर सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों का चित्रण है वहाँ आर्थिक स्थिति का चित्रण होना भी स्वभाविक है। मिश्र जी ने जहाँ की भी यात्रा की वहाँ का समाज इनसे जुड़ गया। पड़ोस की खुशबू यात्रावृत्त में मिश्र जी ने नेपाल की आर्थिक स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है-

"इसके बाद हम लोग बाजार की ओर गए। एक साथ जाकर बाजार में दो-तीन टोलियों में बँट गए और अपनी-अपनी रूचि की चीजें देखने लगे। यह अनुभव हुआ कि यह बाजार भारत के बाजार से सस्ता है, अत: जिसे जो लेना था लिया।"

मानवीयता एवं मूल्यों के रक्षार्थ मिश्र जी सर्वत्र आत्मीयता से ओतप्रोत रहे हैं। उनके यात्रावृत्तांतों में आत्मीयता एवं वैयक्तिकता विद्यमान है, विश्वास के किनारे छिन्न-भिन्न नहीं हैं। शुद्ध लेखक की भाँति उनमें निर्भीकता, प्रलोभनहीनता, आत्मीयता एवं वैयक्तिकता समाहित है। उन्होंने प्रत्येक आत्मीय लगने वाली बात का बड़े प्रभावी ढंग से वर्णन किया है-

"मैंने तो निर्णय ले ही लिया था (वह मेरा स्थायी निर्णय है और मैं मानता हूँ कि यह पूरे देश का निर्णय होना चाहिए) कि मैं औपचारिक अवसरों पर हिंदी में ही बोलूँगा और डॉ. बी.के. सिंह या डॉ. एस.पी. अग्निहोत्री उसका अंग्रेजी में अनुवाद करेंगे। यह प्रश्न मेरी सुविधा-असुविधा का नहीं है, बल्कि देश की अस्मिता का है।"

उपर्युक्त उदाहरण में अपनी भाषा के प्रति गहरी आत्मीयता स्पष्ट होती है। उत्तरी कोरिया में भी मिश्र जी ने अपनी मातृभाषा हिंदी का प्रयोग किया। अपनी भाषा के होते हुए दूसरी भाषा का सहारा लेना उनको पसंद नहीं आता। अंग्रेजी का साहचर्य उन्हें अप्रकृतिस्थ कर देता है।

मिश्र जी ने अपने यात्रा वृत्तांतों में अनुभूत स्मृतियों को व्यंजनामूलक संकेत-शैली में रोचक ढंग से अभिव्यक्त किया है। देश हो या विदेश, जहाँ उन्हें प्रेम, और अपनेपन का साहचर्य मिलता है वहाँ का वातावरण उन्हें रसमय दिखाई पड़ता है। उस प्रेम एवं सम्मान के प्रति उनकी आत्मीयता जाग्रत हो जाती है।

"मेरे कक्ष साथी विजय सिंह से पहली भेंट थी, किंतु उनके आत्मीय व्यवहार ने यह महसूस ही नहीं होने दिया कि हम पहली बार मिले हैं और यही स्थिति अन्य अतिथि मित्रों के साथ भी। मुझे याद है कि मैंने फोन पर डॉ. रेड्डी से कहा था कि मैं तीन दिन वहाँ क्या करूँगा?पहले दिन

उद्घाटन भाषण देकर दूसरे दिन या हद से हद तीसरे दिन लौट आऊँगा। उन्होंने आग्रह किया था कि यदि लौटने की कोई विशेष जल्दी न हो तो हम लोगों के साथ तीनों दिन रहें। हमें बहुत अच्छा लगेगा। अब लग रहा है कि यहाँ तीन दिन तो बहुत थोड़े पड़े। महानगरी परिवेश से डूबे हुए मन को यहाँ के स्वच्छ शांत परिवेश और इतने-इतने मित्रों के सान्निध्य में रहने के लिए दो चार दिन और मिले होते तो कितना अच्छा रहा होता। हम कल यहाँ से चले जायेंगे, यह अनुभूति हमें भारी कर रही थी।"

दक्षिण कोरिया की यात्रा में अपने शिष्य 'ली' और उसके परिवार के अन्य सदस्यों की गहरी आत्मीयता ने मिश्र जी के मन को बांध दिया था। उदाहरण दृष्टव्य है- "पूरा परिवार जन्म-दिवस का समारोह तो मना ही रहा था, ली के भारतीय गुरु-गुरुआनी का सम्मान और प्यार-समारोह भी मना रहा था। घर के सबसे छोटे सदस्य ली के गुरु जी के प्रति पारिवारिक स्नेह की ऊष्मा और हर्षोल्लास अद्भुत था। पारिवारिकता की यह स्निग्ध धूप मेरे भारतीय मन पर फैल रही थी और मैं उसमें एक भारतीय परिवार की आँच अनुभव कर रहा था।"

मिश्र जी के यात्रावृत्तांत का एक बहुत बड़ा भाग प्रकृति को समर्पित है, जिसमें प्रकृति चित्रण की विपुलता है। उन्होंने प्रकृति के माध्यम से रस, गंध, रूप और वातावरण में रंग भरे हैं जो आत्मीय हो उभरे हैं। उदाहरण दृष्टव्य है- "कृति और मनुष्य के आत्मीय संवाद की जो अनुभूति बचपन में मैंने अपने गाँव में की थी उसी का यह विराट रूप था। शहर के बंद परिवेश में से निकलने के बाद यह प्रकृति संसार कितना सुख दे रहा था। यह सुख पिकनिकी नहीं था। यह अपने घर लौटने की अनुभूति का सुख था, यह अपनो से अपनो के जुड़ने का सुख था। ट्रेन भागी जा रही थी और लगता था मैं ट्रेन में नहीं हूँ, मैं उससे बाहर जा पड़ा हूँ और लगातार खोता जा रहा हूँ, फैलता जा रहा हूँ, इस विराट सौंदर्य के बीच।"

उपर्युक्त उदाहरण में केवल प्रकृति का कोमल और रमणीक दृश्यांकन ही नहीं है, यथार्थवादी सौंदर्य दृष्टि भी समाहित है। प्रकृति के स्पर्शजन्य रागात्मक चित्र उभरकर आत्मीय बन पड़े हैं।

साहित्यिक परिमार्जन और चित्रांकन की दृष्टि से मिश्र जी के यात्रा-वृत्तांत अत्यंत सजीव बन पड़े हैं। उनकी चित्र विधायिनी दृष्टि वस्तु वर्णन में अत्यंत आकर्षण उत्पन्न कर देती है। किसी भी स्थान, दृश्य या वस्तु का जब मिश्र जी कलात्मक चित्र उपस्थित कर देते हैं तो उसका महत्व और भी बढ़ जाता है। प्रकृति के मनोरम चित्रों को उन्होंने स्थान-स्थान पर अपने हृदय में बटोर कर लिपिबद्ध किया है। प्रकृति चित्रण के माध्यम से वे अपने विचारों को संपूर्ण लालित्य के साथ सामने रख देते हैं।

एक उदाहरण प्रस्तुत है- "किनारे-किनारे बरांस फूले थे। ली ने अपने कैमरे का धनुष ताना और ताबड़तोड़ फ्लैश के तीर मारने शुरु किए। वहाँ से निकलकर हम लकड़ी के पुल पर आए। वहाँ खड़े होकर दोनों ओर देखते रहे। ऊबड़-खाबड़ वनस्पतियों से लदे तथा यहाँ-वहाँ मोड़ लेते तटों के बीच ये बहते हुए जल के प्रवाह का सौंदर्य ही और था। झरना मुड़ता हुआ न जाने किधर जाकर घाटी में अदृश्य हो जाता था। वसंत अपने वन्य परिवेश में कुछ और लग रहा था।"

प्रकृति दृश्यों का वर्णन करते हुए मिश्र जी कहते हैं- "दूर पहाड़ों पर धुएँ की तरह बादल उड़ रहे हैं हमारे ऊपर झुक आये हैं, तेज बूँदे पड़ रही हैं, वनस्पतियाँ नहा रही हैं, चट्टाने जैसे द्रवित होकर बह रही हैं, दोनों ओर की चोटियों के बीच की दूरियाँ और घाटियाँ बूँदों के गिरने की एक संग और विराट् लय से भर गयी हैं, आकाश गर्जन के स्वर से इस लय को कभी-कभी प्रगाढ़ कर दे रहा है, टैक्सी दायें-बाँयें मोड़ लेती हुई ऊपर और नीचे भागी जा रही है, लगता है जैसे किसी तिलस्मी दुनिया से गुजर रहा होऊँ।"

मिश्र जी के यात्रावृत्तांत अत्यंत रोचक हैं। उनके द्वारा की गई यात्रा में पाठकों को स्वयं यायावर बन जाने का सुख मिलता है। मिश्र जी के यात्रावृत्तों में केंद्रस्थ सर्जनात्मक ऊर्जा अत्यंत आश्वस्त करती है क्योंकि उसका स्रोत रचनाकार का प्रमाणिक और प्राथमिक अनुभव संसार है। उन्होंने अपने अनुभवों को कुछ ऐसे लिपिबद्ध किया है कि वे गहरी रोचकता से भर उठे हैं। उन्होंने कई स्थलों पर प्रकृति का बिंबग्राही वर्णन किया है तो कहीं चिंतन द्वारा अभिभूत होकर उसे रोचकता प्रदान की है। कहीं-कहीं व्यंग्य के माध्यम से अतृप्त संदर्भों को तृप्ति दी है। 'तना हुआ इंद्रधनुष' यात्रावृत्त में बीजिंग की यात्रा में देखे गए दृश्यों की रोचकता अत्यंत प्रबल हो उठी है। विदेशी लोगों के जीवन को केंद्रित करते हुए अनूठा चित्रण किया है। उदाहरण दृष्टव्य है-

"उन्होंने दिखाया कि देखिए यहाँ के लोग यानी अच्छे खासे लोग साइकिल पर चलते हैं और यह भी जनवादी राज्य का लक्षण है। "एक घात और।"। मैंने कहा- "क्या?" डा. अग्निहोत्री बोले। "वे प्राय: जांघिया पहनते हैं और इस तरह टांग का आधा कपड़ा बचाकर देश की बचत करते हैं, यह भी जनवादी राज्य का लक्षण है। सभी लोग जोर से हँसे।" उपर्युक्त उदाहरण में रोचकता का पुट स्पष्ट हो उठा है।

मिश्र जी के यात्रा-वृत्तांतों से गुजरते हुए निष्कर्ष निकलता है कि उनके यात्रावृत्तांतों में विशेष रूप से साहित्यिक व्यक्तियों, घटनाओं का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त यात्रा में मिलने वाले आम व्यक्ति भी उनके लिए अर्थपूर्ण हो उठते हैं। आम व्यक्ति की विविध छवियाँ उनके यात्रा-साहित्य को और भी वैशिष्ट्य प्रदान करती हैं। इस वर्णन में एक ओर समाज के अच्छे पक्ष की प्रशंसापूर्ण अभिव्यक्ति होती है और दूसरी ओर कुत्सित पक्ष पर प्रहार भी देखने को मिलता है। देश-विदेश के सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक परिदृश्य का विविध आयामी चित्रण भी इनमें परिलक्षित होता है। मिश्र जी जो भी कुछ देखते हैं, जिससे गुजरते हैं, उसे अपनी आत्मीय, चित्रात्मक और रोचक शैली में इस तरह से प्रस्तुत करते हैं कि पाठकों को ज्ञानवर्धन के साथ उस स्थान की यात्रा करने की अनुभूति होती है। कुल मिलाकर मिश्र जी के यात्रावृत्तांत अत्यंत प्रभावी एवं कलात्मक हैं।

**डॉ. अंजलि देवी,** पुत्री : श्री राजेश सिंह, कमरा नं. : सी-6, सिंचाई कॉलोनी, शेरकोट, जिला-बिजनौर

# हर सफल व्यक्ति के पीछे एक स्त्री होती है।

[ प्रसिद्ध साहित्यकार डॉ0 रामदरश मिश्र जी की
धर्मपत्नी श्रीमती सरस्वती मिश्र जी से एक बातचीत ]

○ जसवीर त्यागी

**प्र० आपका विवाह कब हुआ और उस समय आप क्या करती थी?**

उ0 हमारा विवाह सन् 1948 में हुआ और उस समय मैं सातवीं कक्षा में पढ़ती थी।

**प्र० आप इन्हें कब से जानती हैं? विवाह के समय इनके बारे में आप क्या सोच रही थी?**

उ0 मैं शादी के बाद ही इन्हें जानने लगी। वह समय अलग था। लड़कियों से उनके विवाह के बारे में पूछा नहीं जाता था। माता-पिता जहाँ चाहते थे विवाह कर देते थे। उस समय का समाज आज के समाज से एकदम भिन्न था।

**प्र० विवाह के बाद आप इनके सम्पर्क में आयीं तो इनके चरित्र और कविता के बारे में कैसा अनुभव हुआ?**

उ0 शादी हमारी साँतवीं कक्षा में ही हो गयी थी। हम लोग जब साथ-साथ रहने लगे, उस समय मैं इंटर फाईनल में पढ़ती थी और ये पी0एच0डी0 कर रहे थे। बचपन से ही मुझे कविताएँ पढ़ने का शौक था। स्कूल में होने वाली अन्ताक्षरी तथा अन्य सांस्कृतिक कार्यक्रमों हिस्सा लेती थी। मुझे कविताओं से लगाव शुरू से ही था और फिर शादी के बाद कविताएँ सहज रूप से घर में ही मिलने लगीं तो पढ़ने में अच्छा लगता था। इनके चरित्र, स्वभाव के बारे में शुरू से ही हम जानते थे कि ये संकोची स्वभाव के हैं। इनके देहाती संस्कार थे। लड़कियों से दूर रहते थे, हालांकि लड़कियाँ इन्हें खूब पसंद करती थीं।

**प्र० इनका शुरू का जीवन आर्थिक दृष्टि से बहुत संघर्षपूर्ण रहा। इनके साथ रहते हुए क्या कभी इस अभाव से डर नहीं लगा? और उस समय आपने इन्हें कैसे साथ दिया, कैसे उबारा?**

उ0 एम0ए0 में इन्होंने टॉप किया था। उस समय इन्हें सौ रूपये 'स्कॉलरशिप' मिलती थी,

हालांकि वह आमदनी का कोई निश्चित जरिया नहीं था। फिर भी काम चल जाता था। उस समय कवि सम्मेलन होते थे। फिराक, पंत, निराला जैसे साहित्यकार उन सम्मेलनों में जाते थे। उस समय कवि सम्मेलनों में जाना बुरा नहीं माना जाता था। रात-रात भर कवि सम्मेलन चलते थे और श्रोता बैठे रहते थे। कवि सम्मेलनों में जाने से भी कुछ खर्चा-पानी निकल जाता था। संघर्ष के समय में यह आत्मविश्वास था कि हम एक-दूसरे के साथ हैं। जब कभी उदासी के क्षण आते थे तो हम एक-दूसरे को समझाते थे। हमने विवाह के बाद इनसे कभी कोई माँग नहीं की, जिस प्रकार से स्त्रियाँ लत्ते-कपड़े, गहनों के लिए करती हैं। हम जानते थे कि ये पढ़ने-लिखने वाले आदमी हैं। अंदर से हम एक-दूसरे को अच्छी तरह से समझते-बूझते थे।

**प्र० क्या आपको कभी ऐसा नहीं लगा कि इनका साहित्य लेखन घर की जिम्मेदारियों से इनका पलायन बन रहा है?**

उ0 नहीं, हमें ऐसा कभी नहीं लगा। साहित्य से लगाव हमें शुरू से ही था। साहित्य आदमी को आदमी बनाता है, इंसानियत जगाता है। हमें कभी नहीं लगा कि हम घर का कार्य कर रहे हैं तो कुछ गलत कर रहे हैं। इनका लेखन करना हमें अच्छा लगता था इसीलिए हमने इन्हें मुक्त रखा।

**प्र० पुरूष प्रधान समाज में पुरूष कितना भी पढ़ा लिखा हो और अपने को प्रगतिशील दृष्टि का कहता हो किन्तु वह पुरूष चरित्र पर उतर ही आता है। आपको क्या कभी ऐसा अनुभव हुआ?**

उ0 नहीं, हमें कभी ऐसा नहीं लगा। उस समय जब पर्दा-प्रथा थी, ये हमें सभा-गोष्ठियों में अपने साथ ले जाते थे। जब तथाकथित प्रगतिशील लोग अपनी पत्नियों को घर में रखते थे तब इन्होंने मुझे खूब लिखाया-पढ़ाया। हमारे घर में प्राय: साहित्य-गोष्ठियाँ होती थीं, जिनमें भाग लेते थे-ठाकुर प्रसाद सिंह, नामवर सिंह, केदारनाथ सिंह, त्रिलोचन, शिव प्रसाद सिंह, विष्णु चंद्र शर्मा, शुकदेव सिंह आदि। इसलिए मुझे कभी ऐसा अनुभव नहीं हुआ कि ये मेरे प्रति कोई पुरूष वर्चस्व कायम कर रहे हैं।

**प्र० इनके जीवन और साहित्य की सफलता में आपकी क्या भूमिका रही है? क्या आपको लगता है कि आप न होतीं तो ये कुछ और होते- सफल या असफल?**

उ0 ऐसा तो मैं नहीं कह सकती कि ये सफल होते या असफल। लेकिन हाँ इतना जरूर कहूँगी कि अगर मैं इन्हें इतना सहयोग न करती तो ये इतनी ऊँचाइयाँ न प्राप्त करते।

**प्र० परिवार में किन बातों को लेकर आप लोगों में तनाव होता है। और फिर उनका**

**समाधान कैसे होता है?**

उ0 जब कभी इनके पास पैसे की तंगी रहती है तो उस समय तनाव हो जाता है। हालांकि जीवन का शुरूआती दौर भी संघर्षपूर्ण था। लेकिन उस समय बात अलग थी। उस समय आवश्यकताएँ कम थी। वैसे आज भी हमारी निजी आवश्यताएँ बहुत कम है। इनकी अव्यवहारिकता को लेकर भी कभी-कभी परेशानी होती है। बहुत बार ये व्यवहारिक नहीं होते हैं। उस समय मुझे तनाव होता है। बाहर के लोग कहते भी हैं कि डॉ0 साहब से ज्यादा व्यवहारिक मैं हूँ। शांतिपूर्वक एक-दूसरे से बातचीत करने पर समस्या का समाधान निकल आता है।

**प्र० आप एक-दूसरे के कामों में कैसे सहयोग करते हैं?**

उ0 घर गृहस्थी एक-दूसरे के सहयोग से ही चलती है। सहयोग न मिलने पर परिवार बिखर जायेगा। हम जानते थे कि पढ़ने-लिखने में इनकी रूचि है। वैसे भी साहित्य की ऊर्जा अंदर से होती है। घर से परेशानी होने पर अच्छे-अच्छे लेखक भी गड़बड़ा जाते हैं। मैंने घर की परेशानियों से इन्हें मुक्त रखा। क्योंकि हम नहीं चाहते थे कि इनका लेखन डिस्टर्ब हो। घर-गृहस्थी के कामों में ये कभी दखल करते नहीं। इनका यह जरूर है कि ये रूपये-पैसे से काफी ख्याल रखते हैं। इन्होंने कभी नहीं पूछा कि रूपये-पैसे कहाँ खर्च करती हो। हमलोग परिवार से अलग रहते थे। इन्होंने ने गुजरात में बहुत सालों तक पढ़ाया। परिवार के नाम पर हम दोनों ही थे। फिर धीरे-धीरे बच्चों का जन्म हुआ। उस समय ये अपनी पढ़ाई-लिखाई भूलकर हमारा ख्याल रखते थे। लत्ता-कपड़ा, खाना-पीना इन सब की व्यवस्था ये ही करते थे। ये लिख-पढ़ रहे हैं तो इन्हें दूध दे दूँ, एक कप चाय दे दूँ। इन्हें डिस्टर्ब न करूँ यही मेरी कोशिश रहती थी। इनके लेखन की पहली पाठक श्रोता मैं ही होती हूँ। पसंद न आने पर इनकी चीजों को खूब आलोचना भी करती हूँ।

**प्र० किसी कलाकार पत्नी बनना बड़ा मुश्किल काम है, क्या आप ऐसा अनुभव करती हैं?**

उ0 हाँ, मुश्किल काम तो जरूर है। इसके लिए समर्पण और त्याग की जरूरत होती है।

**प्र० अगर अगला जन्म हो तो क्या आप चाहेंगी कि ये ही आपको पति के रूप में मिले और ठीक इसी रूप में मिलें?**

उ0 हाँ। ये ही पति के रूप में मिले और इसी रूप में मिलें, लेकिन थोड़े व्यवहारिक और दुनियादार भी हों।

✧ ✧ ✧

WZ-12A, गाँव बुढ़ेला, विकासपुरी, दिल्ली–110018

# रामदरश मिश्र के उपन्यासों में मूल्य चेतना

डॉ. विनीता राय

**जमींदारी अत्याचार-उत्पीड़न के अतिरिक्त संघर्ष के प्रति आस्था का उदय लेखक के स्वयं ग्राम परिवेश के भीतर से उगता है। यह परिवेश असीम गरीबी को है। आवागमन के साधनों के साथ जीवन में वहां हर प्रकार के साधनों का अभाव हैं अभाव दरिद्रता, अंधकार, अशिक्षा, रोग, प्राकृतिक आपदा और बिरादरी, भोजभात, जात-कुजात, अंधविश्वास, छुआछुत और विवाह- विडम्बनाओं से भी संघर्ष करते हैं।**

मूल्य-संक्रमण की अवधारणा के संदर्भ में रामदरश मिश्र के उपन्यासों का यह अनुशीलन लेखक के जीवन के सफरनामें के अध्ययन विश्लेषण के बिना पूरा नहीं होगा। लेखक के जीवन का सफरनामा अब तक दो खण्डों में प्रकाशित हो चुका है। पहला खण्ड 'जहाँ मैं खड़ा हूँ' 1984 में और दूसरा खण्ड 'रोशनी की पगडंडियाँ' 1988 में प्रकाशित हुआ। लेखक की जीवन-यात्रा संबंधी ये पुस्तकें उसके सम्पूर्ण जीवन परिवेश को समेटकर चित्रांकित करती चलती हैं। इस परिवेश को ही उसके जीवन की वह पृष्ठभूमि कहेंगे जिसमें से उसके उपन्यासों की घटनायें, कहानियाँ, चरित्र और समस्यायें आदि उपतजी हैं। इसके साथ ही मूल्य और मूल्य-संक्रमण आदि से संबंधित वे स्थितियाँ जो लेखक के उपन्यासों में आती हैं जीवन की उन्हीं पृष्ठभूमियों से जुड़ी होती हैं। इसीलिए उनके सूत्रों को अन्वेषित करने के लिए लेखक की जीवन-यात्रा से संबंधित ये पुस्तकें अनिवार्य रूप से अनुशीलन के अन्तर्गत आयेंगी।

अपनी कृति 'जहाँ मैं खड़ा हूँ' में लेखक ने अपने बचपन और आरंभिक संस्कारों का चित्रण किया है। इस चित्रण में लेखक का परिवेश आता है। यह वही परिवेश है, जिसमें कथाकार को जीवन का रस मिलता है। यह जीवन का रस ही वास्तव में मूल्य है। यह मूल्य श्रद्धा-भक्ति के रूप में हो या

पारिवारिकता-सामाजिकता के रूप में हो, सर्वत्र पहचान में आ जाता है। अपने गाँव, अपनी माटी और अपने लोगों के प्रति गहरे प्रेम के बोध को अभिव्यक्त करते हुए अपने परिवेश के प्रभाव के बारे में लेखक लिखता है-

'होश सँभालते ही मैंने अपने चारों ओर एक छोटी-सी दुनिया देखी परिवार की, मित्रों की, गाँव की, खेतों की, खलिहानों की, बाग-बगीचों की और यह दुनिया धीरे-धीरे बड़ी होती गयी। डुमरी बीहड़ कछार में बसा हुआ एक गाँव जो मेरा गाँव है। इसके एक ओर राप्ती बहती है, एक ओर गोर्रा। दोनों ने इस गाँव को और इस जैसे सैकड़ों गाँवों को अपनी कुंडली में लपेट रखा है। इसके चारों ओर दस मील तक कोई पक्की सड़क या रेल नहीं थी, अब भी नहीं है।'

ऐसे अभावग्रस्त क्षेत्र में स्थित गाँव में जहाँ जीवन के साधनों का अभाव है, कहाँ से जीवन का रस मिलता है? इस सवाल का जवाब बहुत स्पष्ट है, यह रस सांस्कृतिक मूल्यों से मिलता है। फागुन का तुरंग है, होली है, उल्लास है, सामूहिक जीवन है और अटूट-अकुँठ मस्ती का परिवेश है। कथाकार उस मस्ती का वर्णन करते हुए भाव विभोर हो जाता है। वह लिखता है कि-'कितना उम्माद होता था फागुन में और कितना उन्माद था उस समय के लोगों में। घर फूँक मस्ती वाले लोग। खेती-बारी की चिंता न कर गाँव में, दूसरे गाँवों में, संबंधियों के यहाँ फाग की स्पर्धा करते लोग घूमते थे। मेरे पिताजी भी इनमें थे। हम लोग भी फागुन को खूब जीते थे, इतना जीते थे कि आसपास के अभाव का पता ही नहीं चलता था।'

इन सांस्कृतिक मूल्यों से पूर्ण जीवन-रस में रसे-बसे लेखक को जो कुछ भी मिलता है, इन गाँवों से मिलता है। इसीलिए अपने उपन्यासों में वह आदि से अन्त तक इन गाँवों से जुड़ा होता है। शहरों से बस उसे भीतर की सम्पदा के प्रकाशन की प्रेरणा मिलती है। मूल पूँजी गाँव की है। इसीलिए लेखक ने जब पहली बार गाँव छोड़ा तो न जाने कितनी उदासी और अकेलेपन के बोध ने उसे घेर लिया था। गाँव से दस मील की दूरी न जाने कितनी बड़ी दूरी लगती थी। अपने गाँव की मोहकता, उसके ईद-गिर्द बनी गहरे आत्मीयता के वृत, हार्दिक प्यार की अनुभूतियाँ सभी लेखक के लेखन में उतर कर उसे प्राणवान बनाती हैं। अपने लोगों से प्रेम यदि जीवन का एक बहुत बड़ा मूल्य है, तो इस मूल्य की अनुभूति के शब्दों में-

'मामा के गाँव के पास से तैरना नदी बहती है-छोटी-सी नदी लेकिन बरसात में उपद्रवकारी। ...तैरना के दक्खिन में छः-सात मील के घेरे में स्थित अनेक गाँव हमारे संबंधों के द्वीप से हैं। यह पूरा वृत हमारे लिए आत्मीयता का वृत है। मेरे दो-दो ननिहाल, मेरा अतियाउर, मँझले भाई की ससुराल, मेरी ससुराल तथा गाँव के अनेक लोगों के ननिहाल, ससुराल इस वृत के गाँवों में पड़ते हैं। इसीलिए मेरा पूरा का पूरा गाँव मांगलिक और पर्वों के अवसरों पर यहाँ खिंचा चला आता है।'

प्रेम आत्मीयता, सहानुभूति, ममता, वात्सलय और शांति-सुख सब कुछ लेखक को इतना भरपूर भाव से मिलता है कि उसकी सरसता साहित्यकार जीवन की प्रेरणा बन जाती है। वास्तव में गाँव घर की वह केन्द्र है जिसके इर्द-गिर्द वह समाज, राष्ट्र और मानवता का विशाल ताना-बाना

बुनता है। यह लेखक का मूल्यवान केन्द्र कितना शक्तिशाली है, इसका आश्वस्ति अद्‌भुत होती है। 'घर आ गये' का बोध कितनी राहत देता है। मैं पुचकारे गये बच्चे की तरह चुप हो गया। अपने घर में हूँ, चारों ओर अपने लोगों के हाथ हैं, ममता भरी आँखें है, और सबसे बड़ी बात कि माँ है। एकबारगी मुझे एक आश्वस्ति के अनुभव से भर देने के लिए पर्याप्त था।' गाँव के इस प्रेम के दो प्रमुख छोर हैं। एक छोर पर गाँव के लोग हैं और दूसरे छोर पर प्रकृति है। यह प्रकृति लेखक को लोगों की ही भाँति प्रेम और आत्मीयता प्रदान करती है। इस प्रकृति के साहचर्य का संस्कार लेखक के ऊपर तब भी बना रहता है जब वह बनारस उच्च अध्ययन के लिए जाता है। बनारस के शरद में 'ठट्ट के ठट्ट लोग गाते-बजाते देहात से चले आते थे। बनारस जैसे गीतात्मक महाकाव्य बन जाता था। धार्मिक आस्था का वैसा गहरा दबाव मैंने फिर कभी नहीं अनुभव किया।' यही स्थिति बनारस के बसन्त की है। यह लेखक को बहुत प्रिय है। वह इसके रस-गंधा में सम्पूर्ण रूप से डूबता है। चाहे वह यूनिवर्सिटी के भीतर का बसन्त हो चाहे बाहर के गामांचल का, सभी लेखक को झकझोरते हैं। यह वही सौन्दर्यवादी मूल्य होता है जिसकी जड़े लेखक के जीवन की जमीन में गहराई से जुड़ी होती है तथा बावजूद प्रगतिशील बुद्धिजीवी होने के उपन्यासों में, विशेषकर आरंभिक उपन्यासों में अपना रंग दिखा देती है। द्वितीय उपन्यास 'जल टूटता हुआ' में इसका आकर्षण विशेष रूप से दिखायी पड़ता है। इसमें लेखक प्रकृति के बहुत निकट है। बसन्त चित्रण भी इसमें बहुत चटक है। यह वही बसन्त चित्र है जिसकी एक अनुभूति अधययन काल में इस प्रकार होती है-

'फागुनी हवा के अल्हड़ झोंके फसलों को छेड़ते हुए, स्वयं में बजते हुए दिगंतों तक चले जाते थे, पत्तों उड़ते हुए एक विशेष संगीत की तरह चारों ओर फैल जाते थे, पेड़ों की डालियाँ नंगी होती जाती थीं और उनके भीतर से फूटती हुई नयी आभा चमकने लगती थी और एक दिन लाल-लाल किसलय उन पर लद जाते थे।'

प्रकृति के सौन्दर्य में कथाकार की तल्लीनता उसकी आस्था को प्रकट करती है। यह आस्था का मूल्य अपने को विविध रूप में प्रकाशित करता है। जिसकी आस्था अपने गांव की प्रकृति के ऊपर है उसकी यह आस्था विस्तृत होकर समाज के प्रति, देश के प्रति, शोषित-पीड़ित मानव के प्रति, मानवाधिकार के प्रति और सामाजिक न्याय के प्रति जाग्रत हो जायेगी। यह आस्था वास्तव में जीवन की धुरी है जिसका प्रथम चक्र ऋतु के सौन्दर्य और इस विशेष ऋतु के विशेष त्योहार के प्रति प्रकट होता है। बनारस के दशहरे की अनुभूति के बारे में लेखक लिखता है कि 'दशहरे में बनारस का वातावरण अद्‌भुत जीवंतता और महक से भरा होता है। मैंने बाद में इसका खूब आनंद लिया। किन्तु रामलीला मुझे थुन्हीं की अच्छी लगती रही। थुन्हीं हमारे गाँव से दो मील की दूरी पर है। बचपन में हम इस मेले में जाया करते थे। इस मेले में जाने का अद्‌भुत उत्साह और 'थ्रिल' मन में भरा होता था। वह संस्कार अब तक नहीं गया।' यह दशहरे और रामलीला का रोमांच वास्तव में अपनी पूरी भारतीय संस्कृति का रोमांच है। लेखक का आस्थावादी आन्तरिक जीवन परिवेश बसंत पंचमी के चित्रण में विशेष रूप से खुलता दृष्टिगोचर है। वह काशी हिन्दू

विश्वविद्यालय की इस दिन वाली शोभा का आत्मविभोर होकर स्मरण करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस चित्रण में अपनी ऋतु, अपने विश्वविद्यालय, अपने त्यौहार, अपनी पूजा, पोशाक, कुलगीत, अपने परिवेश और अपने सहपाठियों सब के प्रति गहरी आस्था की अभिव्यक्ति हो जाती है। वह लिखता है-

'सारी लड़कियाँ पीली साड़ी में थीं और लड़कों ने भी या तो पीली टोपी लगा रखी थी या पीला रूमाल ले रखा था। प्रकृति के पीताभ वातावरण में मानव सौन्दर्य और परिधान की पीताभी लहरों की तरह लहरा रही थीं। चारों ओर खिले हुए फूलों के बीच उत्साह से खिले हुए नेत्र वातावरण को एक अलग ही रस और गंध से उष्मित कर रहे थे। लगता था जैसे शून्य में हजारों कमल खिल गये हों और चल रहे हों।'

यह आस्था लेखक को एक समर्पित शिष्य, एक सच्चा मित्र, एक श्रद्धालू पूज्य जन-भक्त, एक सहृदय सहयोगी, एक समाजवादी, बुद्धिजीवी और एक संवेदनशील कथाकार बना देती है। अपने अध्ययन काल की आस्थावादी लहरों को अपने आत्म-कथा में लेखक ने विस्तार से चित्रित किया है। उसे आरंभ में अपने गांव के आर्रंभिक गुरूओं के प्रति जो भक्ति है वही काशी विश्वविद्यालय में आकर अपने विख्यात प्राध्यापकों के प्रति कुछ और गहराई के साथ अभिव्यक्त होती दृष्टिगोचर होती है। कथाकार ने अपनी आत्मकथा में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ0 जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, आचार्य सीताराम चतुर्वेदी और चुनेकर जी आदि के संस्मरणों को गहरी आस्थावादी दृष्टि से लिखा है। उसने अपने सहपाठी नामवर सिंह और ठाकुर प्रसाद सिंह आदि को भी पूरी आत्मीयता से स्मरण किया है।

'जहाँ मैं खड़ा हूँ' में पहली बार अपनी साहित्य-शिक्षा की भूख लिए लेखक जहाँ खड़ा होता है, वह स्थान होता है उसके गांव से दस मील दूर ढरसी गांव जहां पंडित रामगोपाल शुक्ल का 'गुरूकुल' होता है। वे हाईस्कूल और हिन्दी विशेष योग्यता की व्यक्तिगत शिक्षा देकर परीक्षा दिलाते हैं। 'पंडित जी यानी पंडित रामगोपाल शुक्ल स्कूल के आचार्य थे। वे अकेले थे इसलिए प्रमुख, सहायक सभी कुछ स्वयं थे। उन्होंने अपनी छोटी औकात में ही स्कूल को एक स्वावलम्बी गुरूकुल का रूप दे रखा था।... ऐसी क्षमता के कम लोगों का साक्षात्कार मैंने किया था या कहिए किया है। (शुक्ल जी के कवित्वपूर्ण समर्पित साहित्य शिक्षक व्यक्तित्व का जो प्रभाव लेखक पर पड़ता है, उसका गहरी आस्था से चित्रण होता है। इसी प्रकार दूसरे विद्यालय बरह्ज के राष्ट्रभाषा विद्यालय के गुरू पंडित सिंहासन तिवारी का भी भक्तिपूर्ण चित्रण होता है। यह आस्था आगे चलकर कुछ और वृहस्तर मूल्यों से जुड़कर महामना पंडित मदन मोहन मालवीय के प्रति प्रकट होती है-'मालवीय जी पूरे देश के नेता थे लेकिन बी0एच0यू0 तो उनकी सघन कृति था। ब0एच0यू0 की छोटी सी दुनिया की साँस-साँस में उनका राग बसा हुआ था। इसलिए उनके दिवंगत होने के समाचार से पूरा बी0एच0यू0 हाहाकर कर उठा। बनारस भी थर्रा गया। .....छात्रवास में, सड़को पर, मालवीय जी के आवास के आस-पास लोग रो रहे थे। बाग-बगीचे, मकान, हवा, आकाश सभी में जैसे एक आकुल मंथन हो रहा था।'

आस्था, श्रद्धा और सम्मान का यही पूज्य भाव तत्कालीन वाइस चांसलर सर्वपल्ली सर राधाकृष्णन् के प्रति भी अभिव्यक्त है। 'अँगरेजी के माध्यम से पुख्त हुई भारतीय ज्ञान की परंपरा का परिदृश्य विरूद्धों के सामंजस्य का अनुपम सौंदर्य पैदा करता था। यह वह समय था जब ऐसे-ऐसे व्यक्तित्व पदों को गौरव प्रदान करते हैं।' अपने एक गुरू चुनेकर जी के प्रति लेखक लिखता है-

'उनके एक व्यवहार ने उनके पांडित्य की ईमानदारी का बड़ा गहरा प्रभाव मुझ पर छोड़ा। वे पढ़ा रहे थे कि एक बंगाली लड़के ने उन्हें टोक दिया-'सर, मुझे तो लगता है कि इसका अर्थ यह है।' चुनेकर जी पलभर को रूके फिर बोले- 'तुम ठीक कहते हो। मेरा अर्थ गलत था। मुझे शर्म आनी चाहिए अपनी गलती पर। एक प्राध्यापक होकर मुझे यह गलती नहीं करनी चाहिए।'

कथाकार के ऊपर अपने गुरूओं की उस पीढ़ी का प्रभाव होता है, जो अपने ज्ञान, सेवा, त्याग और तप के कारण पहचाने जाते हैं और पूजित होते हैं। ये लोग आत्मविज्ञापन और प्रदर्शन से दूर होते हैं और समाज का चुपचाप निर्माण करते चलते हैं। एक ऐसे ही अपने आरंभिक गुरू श्री मदनेश जी का लेखक स्मरण करता है। 'उन्होंने जो रघुवंश का काव्य-मर्म खोलना शुरू किया तो एक-एक पंक्ति अपने अर्थ-वैभव के साथ भीतर उतरती गयी। लगा कि हम कविता पढ़ रहे हैं और रघुवंश से गहरा रागात्मक लगाव जुड़ता चला गया। हम जब तक वहां रहे, उनसे पढ़ते रहे और काफी कुछ समझ में आ गया था। समय की गहमागहमी के पीछे छिपे हुए कैसे-कैसे लोग होते हैं-चुपचाप अपने दर्द में पैबंद लगाते हुए और अपने प्यार, ज्ञान, विवेक की छोटी-छोटी निधियों से समाज के जीवन को समृद्ध करते हुए ये देते हैं, पाते हैं कुछ नहीं।'

लेखक के भीतर जो यह उठती उमर का गुरूभक्ति का पूज्य भाव है, वही आगे चलकर देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता के मूल्य के रूप में विकसित है तथा 'पानी के प्राचीर' तथा 'जल टूटता हुआ' में अभिव्यक्त होता है। पहली कृति यदि स्वराज्य की आशावादिता से जुड़ी है, तो दूसरी में मोहभंग का चित्रण है। अपने राष्ट्र के ऊपर धिरे पतनशील बादलों से लेखक को चिन्ता होती है। लेखक ने उस दिन को गहराई से आत्मसात किया है, जब 'लोग नारे लगाते रहे उत्तेजित होते रहे, नेहरू जी शांत बैठे रहे। फिर वे बोले, संक्षेप में आहिस्ता-आहिस्ता बोले, लेकिन लगा जैसे उनकी वाणी से धीमी-धीमी आँच फूट रही हो... जय-जय-जय-जय आकाश गूँज रहा था और पुलिस के अफसर अपनी गोली-बन्दूक के साथ भी अपने को बहुत अशक्त समझ रहे थे, अपमानित अनुभव कर रहे थे।' फिर लेखक ने उस दिन को रोते-सिसकते देखा है, जब 'गाँधी जी की अस्थियाँ फूलों के साथ गंगा जी में प्रवाहित कर दी गई। अस्थियाँ तो डूब गईं लेकिन फूल तैरते रहे। तैरते फूल त्रिवेणी की लहरों में एक कविता रच रहे थे। वे मानों कह रहे थे कि आदमी को तो मरना ही होता है, उसके शरीर का अंमित अवशेष भी काल के प्रवाह में डूब जाता है, किन्तु वह जो फूल छोड़ जाता है, वह प्रवाह के ऊपर तैरता रहता है, अपने रंग और खुशबू से प्रवाह को भी रंग देता है। मुझे लगता था कि इस अवसाद की बेला में भी चारों ओर फूल खिले हुए हैं।'

जवाहर-गाँधी के प्रति लेखक की जो आस्था है, वह उसके प्रथम उपन्यास 'पानी के प्राचीर' में विशेष रूप से अभिव्यक्ति पाती है। इस कृति का मुख्य बाल पात्र नीरू पूर्णत: गांधीवादी है। वैसे आरंभिक प्रभाव का आस्थावादी मूल्यों से निर्मित गांधीवाद अथवा आदर्शवाद मूलभूत रूप से प्रत्येक उपन्यास में है, परन्तु बाद में वह मार्क्सवादी प्रगतिशीलता में मिल गया है। इस प्रगतिशीलता के स्रोत के बारे में लेखक अपने आत्मकथ्य में लिखता है कि 'ठाकुर और त्रिलोचन के संपर्क से मेरा छायावादी संस्कार आहत हो रहा था, तिलमिला रहा था। धीरे-धीरे मेरे भीतर एक नये स्वर का अनुभव होने लगा। लोक-संपृक्ति पर जो रूमानियत का अभिरंजित रंग चढ़ा हुआ था, वह धीरे-धीरे साफ होने लगा।... एम0 ए0 के दिनों में ही मेरा झुकाव मार्क्सवाद की ओर हुआ। यह झुकाव भी धीरे-धीरे हुआ, भीतर से हुआ, मार्क्सवाद की चेतना अन्दर उतरी, तब हुआ मार्क्सवादियों के कहने से या समझाने-बुझाने से नहीं हुआ।'

जीवन के अनुभव के भीतर से उगी प्रगतिशीलता के साथ समाजवादी मूल्यों के लिए शोषण, अन्याय, अत्याचार के विरूद्ध संघर्ष और टकराव की प्रवृति के स्रोत और आरंभिक प्रभाव को लेखक के आत्मकथ्य में खोजना आसान है। मूलत: जमींदारों के अत्याचार को लेखक ने बहुत निकट से देखा है। इस अत्याचार को लेखक ने बहुत विस्तार से वर्णन किया है। रचनात्मक स्तर पर यही सब परिदृश्य 'जल टूटता हुआ' के महीप सिंह नामक जमींदार के रूप में चित्रांकित है। इस शोषण, उत्पीड़न, अत्याचार-अन्याय के बारे में लेखक लिखता है कि 'मेरा किशोर मन तब ऐसे दृश्यों का समाजशास्त्रीय विवेचन तो नहीं कर सकता था किन्तु आहत जरूर होता था। ऐसे दृश्य मुझे बहुत सालते थे।'

जमींदारी अत्याचार-उत्पीड़न के अतिरिक्त संघर्ष के प्रति आस्था का उदय लेखक के स्वयं ग्राम परिवेश के भीतर से उगता है। यह परिवेश असीम गरीबी को है। आवागमन के साधनों के साथ जीवन में वहां हर प्रकार के साधनों का अभाव हैं अभाव दरिद्रता, अंधकार, अशिक्षा, रोग, प्राकृतिक आपदा और बिरादरी, भोजभात, जात-कुजात, अंधविश्वास, छुआछुत और विवाह-विडम्बनाओं से भी संघर्ष करते हैं। इन सब का वर्णन बहुत खुलकर 'जहाँ मैं खड़ा हूँ' में हुआ है। सबसे भीषण संघर्ष बाढ़ से होता है। यह बाढ़ के संघर्ष की संवेदना लेखक के तीन उपन्यासों 'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ' और 'आकाश की छत' में चित्रांकित है। अपने इन संघर्ष के अनुभवों के बारे में लेखक कहता है-

'आज शहरी दुनिया में रहते-रहते इस दृश्य के बारे में सोचकर डर लगने लगता है, किन्तु तब ऐसा नहीं था। गाँव छोड़ने के कही दिनों तक बाढ़ की जिन्दगी का संस्कार अपने ऊपर बाकी था।'

बाढ़ की आपदा अकेले नहीं आती है। उसके साथ वर्षा की आपदा, घर गिरने, फसल डूब जाने की आपदा लगी होती है। मकान का गिरना तो लेखक का निजी जीवन-भोग है। वह लिखता है- 'हमने चौंक कर देखा-सामने के मकान की दीवार गिर गयी थी। घर में की औरतें फटी-पुरानी साड़ियाँ पहने अपनी लाज छिपाने के लिए आँगन में इधर-उधर भाग रही थीं। इसी प्रकार फसलें डूब रही हैं और इस विनाशलीला में बैठकर कुछ लोग किस प्रकार अपनी जिजीविषा

के उत्साह में उसे चुनौती दे रहे हैं। 'सामने अनंत बाढ़ की मौजें गरजती हुई ठाठें मार रही थीं, जिनके नीचे खेतों के सारे सपने दबे पड़े थे। पानी झमाझम बरस रहा था...। ऐसे ही वातावरण को फाड़कर वह बालक पैदा हुआ था जिसका नाम कृष्ण था। उस नन्हें बालक ने मानो हर प्रकार के अंधकार को चुनौती दी।' यह अन्तवाला संकेत काफी सशक्त है। अंधकार के खिलाफ यह प्रकाश की चुनौती है। अन्याय के खिलाफ न्याय की चुनौती है। असत्य के विरूद्ध सत्य की चुनौती है।

लेखक के प्रमुख पात्रों में सत्य, न्याय, मैत्री, विश्वास, परहित और मनुष्यता वाले मूल्यों में गहरी आस्था है। इन्हीं मूल्यों की पूर्ण स्थापना में लेखक का अंतिम उपन्यास 'दूसरा घर' लिखा गया है। परस्पर विश्वास, प्रेम और एक लक्ष्यबद्ध जीवन के सूत्र में चार मित्र एक में एक जुड़े हैं और पूरे समाज के अन्तर्विरोधों से संघर्ष कर रहे हैं। इसकी मूल प्रेरणा छात्रजीवन से आरंभ होती है। लेखक को ऐसे ही मित्र पसन्द हैं, जो दूसरों के काम आने वाले हैं। जो दूसरों का दु:ख बाँटते हैं। अपने अभाव में रहकर भी जो दूसरों की मदद करते हैं। लेखक ने अपने एक ऐसे ही मित्र ठाकुर प्रसाद सिंह का वर्णन किया है और लिखा है-'ठाकुर प्रसाद सिंह जैसे लोग अपने अभावों और पारिवारिक संघर्षों को प्रदर्शित नहीं करते, उसे निजी वस्तु मानते हैं। हाँ इन अभावों और संघर्षों को जो स्वस्थ प्रतिफलन उनके व्यक्तित्व में होता है, उसका लाभ समाज को अवश्य मिलता है।' इसके साथ ही लेखक अपने एक ऐसे ही मित्र भगत सिंह का वर्णन करता है, जो उक्त विशेषताओं के कारण प्राय: अमित्र होकर भी मित्र होता है। क्योंकि वह-'मित्रों के सुख-दुख में मर मिटनेवाला दोस्त था, आदमी का दर्द उसे भीतर तक बेचैन कर देता था। वह गलत बात के खिलाफ आखिर तक लड़ सकता था। उसकी इन विशेषताओं के स्तर ज्यों-ज्यों खुलते गये, उसके प्रति मेरा लगाव बढ़ता गया। वह साल बीतते-बीतते मेरा बहुत अच्छा दोस्त बन गया।

अपने एक और अमित्र-मित्र जीवन सिंह से कथाकार की मित्रता इसलिए होती है कि वह गलत के साथ लड़ सकता है। यही 'गलत के प्रति संघर्ष' लेखक के अंतिम उपन्यास 'दूसरा घर' का मुख्य स्वर है। समाज में ऐसे लोग जो गलत के प्रति टकरायें बहुत कम होते हैं, तिस पर भी इस मूल्य संक्रमण के युग में तो और दुर्लभ होते हैं। इसीलिए लेखक के जीवन में भी मित्रों की संख्या कम होती है। वह सटनेवाले स्वभाव का नहीं है। उसकी अंतरंगता नकली नहीं होती है। वह सच्चाई-सहजता का पुजारी है। यही कारण है कि मैत्री नामक मूल्य के विषय में उसका अपना निजी विचार है। वह लिखता है कि अंतरंगता यदि नाटक नहीं है, तो सचमुच उसका दायरा सीमित होता है जिसमें हम अपने, कुछ बहुत अपने लगनेवाले लोगों के सामने अपने को खोल देना चाहते हैं, जिनके बिना हम अधूरा-अधूरा अनुभव करते हैं। भावना और दर्शन के स्तर पर एक छोटा-सा संसार ही हमारा अपना हो पाता है और उसी संसार के सुख-दु:ख की गहन प्रतीति बड़ी होकर देश के और संसार के सुख-दु:ख की प्रतिनिधि बन जाती है।'

इस चिंतन के अंतवाली बात बहुत महत्वपूर्ण है। एक सच्चे मित्र के प्रति पीड़ा देश और संसार के प्रति पीड़ा में परिवर्तित हो जाती है। इस प्रकार यह मैत्री एक दायित्व के साथ एक मूल्य

हो जाती है। इस मूल्य-संक्रमण के युग में दायित्व जैसे मूल्य भी टूट गये हैं। 'अपने लोग' के प्रमोद में भी पारिवारिक स्तर पर यह मूल्य-ध्वंश कुछ दिखाई पड़ता है लेकिन इसकी पूर्ति प्रमोद की पत्नी संज्ञा से हो जाती है। वह शत-प्रतिशत दायित्वबोध से जुड़ी हुई है। प्रमोद का यह सीमित पारिवारिक दायित्व-भाव सामाजिक-राष्ट्रीय दायित्व-भाव में परिवर्तित हो गया है। उसके अन्य प्रमुख पात्रों में जैसे नीरू, यश, सतीश, शील और शंकर में गंभीर रूप से दायित्वबोध दृष्टिगोचर होता है। यह उपन्यासों में उभरा दायित्वबोध लेखक को अपने परिवार से विरासत में मिला था। अपने बड़े भाई के बारे में वह लिखता है-

'उन्होंने उर्दू मिडिल स्कूल पास करने के बाद पढ़ाई छोड़ दी। उनके सामने पढ़ने से ज्यादा जरूरी था परिवार को अभाव रूपी सुरसा के मुँह से निकालना, उसे गौरव देना, हम लोगों की पढ़ाई के लिए मार्ग प्रशस्त करना, नौकरी के लिए कहाँ-कहाँ नहीं घूमे-कलकता गये, राँची गये, करणासन्न होकर लौटे। बीमारी और अभाव दोनों से महीनों जूझते रहे, सरदार नगर मिल में काम किया, गाँव के एक ठेकेदार के साथ काम किया। वे घर की हालत देखकर बेचैन हो उठे थे, तड़पते थे, किसी तरह उसका उद्धार करना चाहते थे, उद्धार न होता देखकर कभी-कभी असहाय हो उठते थे। आखिर पास की ही एक रियासत में नौकर हुए।'

यह दायित्वबोध संक्रमित होकर सीधे लेखक में आता है और अपने भाई के थककर बैठ जाने पर वह सोचता है कि 'ऐसी स्थिति में मेरा दायित्व बहुत बढ़ गया था। उन्होंने दायित्व की मशाल मुझे थमायी तो नहीं, किन्तु मैं अनुभव करने लगा कि मुझे उसे अपने हाथ में ले लेना चाहिए। ...दायित्व से भरा हुआ एक भविष्य जो कभी कोई रूप लेता था, कभी एकदम निराकर हो जाता था।' इस प्रकार कथाकार अपने मूल्यों से जुड़े सामाजिक ग्राम संस्कारों को लेकर साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश करता है और अवमूल्यन से, मूल्य-ध्वंस से बारम्बार टकराता है। जहाँ लेखक के सामाजिक मूल्यों के संस्कार स्रोत इतने सघन हैं, वहाँ ऐसा लगता है कि लेखक के जीवन के वैयक्तिक मूल्य स्रोत विरल हैं। इसका आभास अपने पहली मृत पत्नी के निधन के संदर्भ में लिखे गये लेखक के संस्मरण से भी मिलता है। वह लिखता है-

'सच बात तो यह थी कि इस पत्नी से मेरा कोई निकट का रागात्मक संबंध ही नहीं बनने पाया था, कोई साहचर्य मूलक कथा ही नहीं बनने पाई थी, जिसे मैं गहरी तड़प के साथ याद करता। उस अपढ़ देहाती औरत का मैंने मुँह भी ठीक से नहीं देखा था, इसलिए पत्नी के रूप में जुड़ी एक औरत के चले जाने का सन्नाटा और अवसाद तो मन में घिरा था, किन्तु पत्नी के साथ जुड़ी अनेक प्रीतिमूलक सह-यात्राओं की जो दुनिया बनती है, उसके अभाव का जो दर्द सालता है, जो असीम खालीपन भर जाता है, उसका अनुभव नहीं हो रहा था।'

इस पत्नी और उससे उपजी कुंठा का चित्रण लेखक के लघु उपन्यास 'बीच का समय' में हुआ है। इस कृति में प्रेम की आन्तरिक प्यास लिये लेखक तड़पता दिखाई पड़ता है। यह प्रेम एक ओर होता है और दूसरी ओर होती है सामाजिक मर्यादाओं, नैतिकताबोध, शील-संकोच और

सदाचार संबंधी संस्कार-भावना। इसमें विजय दूसरी पंक्ति के मूल्यों की होती है। अवमूल्यन की आँधी में लेखक के मन में जीम उदात्त वैयक्तिक मूल्यों की आस्था उखड़ नहीं पाती है। वह मूल्य-संक्रमण, मूल्यहीनता, मूल्यध्वंस और नये मूल्यों की गिरफ्त में नहीं आता है। इसी का परिणाम होता है कि लेखक के उपन्यासों में मुक्तभोग को कहीं छूट नहीं दी गयी है। उसने प्रणय को ऊँचा स्थान दिया है। उसे देह पवित्रता का भी समर्थन दिया है। अपने भीतर की कस्तूरी लेखक को भी महकती है, परन्तु, भीतर-भीतर किसी चीज को चाहते हुए भी मैं उसके लिए सामाजिक लांछन लेना नहीं चाहता। मैं समझता हूँ कि मेरी यह भीरूता अच्छी ही है। सामाजिक लांछन से बचने का भय ठीक ही है, नहीं तो दुनिया में ललचानेवाली वस्तुओं का कही अंत है क्या? यह एक प्रकार से दायित्वबोध और नैतिक मूल्यों की आत्म-विजय है। लेखक के भीतर गाँधीवादी नैतिकता है। वाह्य जीवन में प्रगतिशील होकर भी वह अपने इस आन्तरिक वैयक्तिक जीवन में अपनी मूल प्रेरणा से बँधा हुआ है। लड़कियों के और युवतियों के जहाँ भी रोमान भरे संदर्भ आये हैं, लेखक का उक्त दृष्टिकोण स्पष्ट रूप से उजागर हुआ है। बड़ौदा 'गुजरात' में रहते हुए लड़कियों के मुक्त जीवन 'रोशनी की पगडंडियाँ, पृ0 140' और भैया के विवाह वाला प्रकरण 'जहाँ मैं खड़ा हूँ, पृ0 112-113' में इसे देखा जा सकता है। लेखक बहुत ईमानदारी से लिखता है-

'लेखक के तौर पर मानसिकता की इन पेचीदगियों का सामना करता हूँ, उनसे गुजरता हूँ लेकिन व्यक्ति के तौर पर इनका सामना नहीं कर पाता। मैं महिला-मित्र नहीं बन सका। जब भी किसी के सम्पर्क में आया, कुछ ही दिनों बाद एक अस्वाभाविकता सी महसूस होने लगी। उनकी अतिरिक्त नारीयता के दिखावे से मैं अप्रकृतिस्थ हो उठा और अपनी राह लगा।'

इस प्रकार आत्मकथ्य संबंधी कथाकार की दोनों पुस्तकें लेखक के उपन्यास परिवेश को पूरी तरह स्पष्ट करती हैं। इसके साथ ही लेखक के ऊपर पड़ने वाले मूल्य संबंधी मूल संस्कारों को भी उजागर करती हैं। इससे उपन्यासों में आये मूल्य-संक्रमण को समझने में बहुत सुविधा उत्पन्न हो जाती है। लेखक की मूल्य संबंधी अवधारणा भी इन पुस्तकों से स्पष्ट हो जाती है। कथाकार में उत्तरोत्तर जो विचारों की परिपक्वता आती गयी है, उसकी पृष्ठभूमि भी ये सफरनामे बयान करते हैं। एक प्रकार से ये सफरनामे लेखक के सम्पूर्ण उपन्यास साहित्य की भूमिका बन गये हैं और यही कारण है कि उपन्यासों के अध्ययन का, विशेषकर उसमें मूल्य-संक्रमण की अवधारणा के अन्वेषण का अंग बनकर अनिवार्य रूप से पठनीय बन गये हैं।

✧ ✧ ✧

# कालीदास सच-सच बतलाना

अलका सिन्हा

**'ये पगडंडियां मुझे बहुत लुभाती हैं' मिश्र जी ने खेतों के बीच से जाती हुई पगडंडियों की ओर इशारा करते हुए कहा था, पता नहीं, कहां तक जाती होंगी ये पगडंडियां, किसके घर को जोड़ती होंगी, कहां, कौन, किसकी बाट जोहता होगा...' मिश्र जी पगडंडियों के रास्ते कहीं दूर निकलते जा रहे थे। एक खामोशी हमारे साथ थी और उस खामोशी में कितनी तरह की स्मृतियां हिस्सेदारी करने लगी थीं।**

जीवन के ऊहापोह और भागमभाग के बीच भी यात्रएं मुझे सुखद लगती हैं। किसी भी छोटी-बड़ी यात्र में इतनी संजीवनी तो बटोर ही लेती हूं कि महानगर की आपाधापी के बीच कुछ तरलता बची रह सके। दूसरी ओर, परम श्रद्धेय डॉ. रामदरश मिश्र जी यात्रओं से बचने की कोशिश करते रहते हैं। इस बात पर मेरी चेतना सहमति नहीं बना पाती। एक लेखक कैसे यात्रओं को नापसंद कर सकता है? जबकि विविध प्रसंगों पर बात करते हुए कई बार उन्होंने इस तथ्य को दोहरा कर कहा है कि वे घर-घुस्सु हैं, यात्राएं उन्हें नहीं भातीं।

अपने बारे में पूरा और सही जानने का भ्रम कितनी ही बार टूटता है और जिंदगी हमें खुद को कई तरह से जानने का अवसर देती है। मैं अक्सर ही छुटी वाले दिन या फिर किसी खास मौके पर मिश्र जी के घर चली जाती हूं। उनके सान्निधय में जिंदगी को हर बार एक अलग तरह से परिभाषित होते हुए देखती हूं और महसूस करती हूं कि मेरे भीतर थोड़ी और परिपक्वता आई है। मगर यात्रओं के प्रति मेरा लगाव कभी भी मिश्र जी के घर-घुसरेपन को तर्कसंगत नहीं ठहरा पाया। शायद यह भी एक वजह थी कि जब उनके साथ बिजनौर जाने का संयोग बना तो तमाम व्यस्तताओं और पूर्वनिर्धारित कार्यक्रमों को दरकिनार करते हुए मैं इस यात्रा पर निकल पड़ी।

'ऐसा करते हैं, हम तीनों इस यात्र को लिखेंगे' मिश्र जी की सलाह ने हमारे भीतर उत्साह भर

दिया। सविता मिश्र तो बाकायदा डायरी में छोटे-छोटे नोट्स लिखने लगीं। मुझे इस अंदाज ने प्रोत्साहित तो किया मगर मैं इसमें सहज नहीं थी। सविता जी भी ज्यादा देर तक ऐसा न कर सकीं, उन्होंने अपनी डायरी बंद कर रख दी और चर्चा में शामिल होने लगीं।

बाद में जब हम तीनों ने अपने-अपने लिखे को एक-दूसरे को सुनाया तो सचमुच वह बड़ा रोचक अनुभव रहा। एक ही यात्र को हमने कितने अलग-अलग तरह से देखा और जिया था। मिश्र जी और सविता जी की डायरी तो प्रकाशित भी हो गई, जबकि मेरी डायरी अपने कागजों के गठ्ठर में ही पड़ी रही। मिश्र जी मेरी इस आदत 'आलस' को लेकर हमेशा ही मुझे समझाते रहते हैं। खैर, अब जब यह विशेषांक निकल रहा था तो सोचा, क्यों न मैं इसी यात्रा संस्मरण को भेज दूं।

अब जब इसे ढूंढ़ने का सिलसिला शुरू हुआ तो खत्म कहां हुआ?

फिर सोचा, जितनी मेहनत इसे ढूंढ़ने में लगेगी, उतने में तो मैं इसे दोबारा लिख लूंगी। याद में तो अभी भी बिलकुल ताजा है उस यात्र का अहसास...

'ये पगडंडियां मुझे बहुत लुभाती हैं' मिश्र जी ने खेतों के बीच से जाती हुई पगडंडियों की ओर इशारा करते हुए कहा था, पता नहीं, कहां तक जाती होंगी ये पगडंडियां, किसके घर को जोड़ती होंगी, कहां, कौन, किसकी बाट जोहता होगा...' मिश्र जी पगडंडियों के रास्ते कहीं दूर निकलते जा रहे थे। एक खामोशी हमारे साथ थी और उस खामोशी में कितनी तरह की स्मृतियां हिस्सेदारी करने लगी थीं। हम साथ होकर भी अपनी-अपनी यात्राओं में कहीं अलग-अलग निकल आए थे। मैं बरसों पीछे छूट चुके अपने दादीघर 'बीरगांव' बिहार में भागलपुर जिले का एक गांव' को याद कर रही थी तो मिश्र जी अपने कॉलेज के दिनों को पकड़ने अहमदाबाद की तरफ मुड़ गए थे। उन्होंने बताया कि नामवर सिंह और वे सहपाठी थे। चाय की चौपाल पर होने वाली बतरस का आनंद लेते हुए, मिश्र जी के चेहरे पर हंसी उतरने लगी थी और बात करने से अधिक वे उसकी याद से हंसते जा रहे थे। उन्हें देख कर मेरे भीतर भी हंसी का झरना-सा फूट पड़ा था। कोई पूछे कि हंसने की बात क्या है, तो हंसने की बात तो अभी आगे थी जो मिश्र जी अभी बताने वाले थे, मगर इतना सब्र कहां? बात पूरी करने से पहले ही उनका ठहाका गूंज उठता और हम मैं और सविता मिश्र उनके अंदाज पर ही हंस पड़ते।

मिश्र जी फिराक गोरखपुरी साहब की किसी घटना का जिक्र कर रहे थे। वे बता रहे थे कि दो श्रोता फिराक साहब की शायरी सुनने आया करते। उस रोज भी वे फिराक साहब से कुछ सुनाने आग्रह कर रहे थे मगर फिराक साहब मान ही नहीं रहे थे।

'मुझे माफ कीजिये, आप लोग गलत जगह दाद देते हैं,' फिराक साहब का अभिनय करते हुए, मिश्र जी ने अपने हाथ जोड़ लिए।

'नहीं, नहीं। ऐसा नहीं होगा।' उन दोनों ने आश्वस्त किया। आखिर कुछ मनव्वल के बाद फिराक साहब मान गए। उन्होंने शेर कहा, 'मुद्दतें गुजरीं...,'

शेर का पहला मिसरा सुनते ही दोनों के चेहरों पर चमक आ गई मगर उन्होंने अपने उल्लास को दबा लिया।

'मुद्दतें गुजरीं कि तेरी याद न आई हमें...' फिराक साहब ने मिसरा पूरा किया।

'वा...ह' थोड़ा सशंकित स्वर में एक ने दाद देनी चाही मगर फिराक साहब के डर से चुप लगा गया।

'और हम भूल गए हों तुझे... 'ऐसा भी नहीं', मगर जब तक फिराक साहब शेर पूरा करते कि दोनों वाह, वाह कर बैठे। बस फिर क्या था, वे दोनों आगे-आगे, फिराक साहब पीछे-पीछे...

मिश्र जी का ठहाका दूर-दूर तक गूंज उठा था।

मिश्र जी बता रहे थे कि गांधी भवन के निर्माण में फंड्स की कमी को दूर करने के लिए किसी अभिनेता को बुलाकर कार्यक्रम कराने के सुझाव पर बात हो रही थी। ठाकुर प्रसाद सिंह ने प्रस्ताव रखा, 'हेलन को बुला लो। दोनों में काफी समानता है, दोनों कम कपड़े पहनते हैं...'

और एक जोरदार ठहाका...

मिश्र जी के ठहाकों ने यात्रा को और भी रोचक बना दिया था।

अचानक सामने से ऊंटों का एक झुंड गुजरा। वातावरण उल्लास भरा तो था ही, मैं खुशी से चहक पड़ी, 'वो देखिये, ऊंट?'

'ऊंट?' मिश्र जी शायद समझ नहीं पाए कि इसमें इतना खुश होने की क्या बात है। मगर महानगर में रहने वालों के लिए ऊंट को देखना भी क्या अजूबे की बात है, इस बारे में मैं उन्हें क्या बताती। मेरी निगाहों के सामने से तो ऊंटों का ऐसा दस्ता गणतंत्र दिवस की परेड में ही निकलता है जिसकी रंगीन सजधज का उल्लेख राजपथ से आंखों देखा हाल सुनाते हुए मैं अपनी स्पष्ट-कमेंटरी में करती रही हूं। ये ऊंट सड़कों पर आम ढंग से चलते भी दिख सकते हैं, ऐसी तो मैंने कभी कल्पना ही नहीं की थी।

मिश्र जी मेरे बचपने पर हंस रहे थे जबकि मेरा उत्साह दो डिग्री नीचे उतर आया था।

'अलका, वो देखो...भैंस...' मिश्र जी मुझे चिढ़ाते हुए हंस पड़े।

उनकी इस बालसुलभ चेष्टा पर मैं भी हंसे बिना न रह सकी और सविता मिश्र तो खिलखिला उठीं।

सड़कों की दोनों तरफ खड़े ऊंचे पेड़ जैस हंस-हंस कर दोहरे होने लगे।

मैं सोच रही थी कि खुश होने के लिए कोई बहुत मेहनत तो नहीं करनी पड़ती मगर हम लोग कितनी मुश्किल से खुश होते हैं और हंसना तो हम भूल ही चुके हैं। मैं खुद भी इनमें शामिल हूं। मगर सच तो यह है कि इतनी आसानी से कभी हंसी आती ही नहीं।

'दिल्ली में आप कुछ और होती हैं, और बाहर आने पर कुछ और।' सविता मिश्र मुझे देखकर बोल पड़ीं।

'कुछ और मतलब?' मैंने अज्ञानता से पूछा था।

'दिल्ली से बाहर होने पर आप कितना हंसती हैं।'

'क्यों, दिल्ली में ऐसे नहीं हंसती?' सवाल तो मैंने सविता मिश्र से किया था मगर पूछ अपने आप से रही थी। महानगर के अपने चलन हैं, वहां खुद को इतना सहज रहने की छूट नहीं दी जा सकती। अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए एक तरह की कठोरता जरूरी मालूम पड़ती है।

कानों में सविता जी के शब्द गूंज रहे हैं। यानी मैं भी दिल्ली वाली हो गई हूं। वैसे बड़ा दम भरती हूं कि दिल्ली में रह कर भी मैं दिल्ली वाली नहीं, ठेठ बिहारी हूं मगर सवाल यह भी है कि दिल्ली वाला कहलाने के प्रति मेरी चिढ़ इसी कठोरता के कारण तो नहीं? दरअसल सहज स्वभाव वाले लोग यहां कितनी आसानी से ठग लिये जाते हैं। मिश्र जी को ही ले लो, कितने ही अनजान-अजनबी खुद को उनके गांव का बता कर उन्हें ठग लेते हैं। अक्सर ही यह महसूस करती हूं कि सरल-सहज व्यक्तित्व बड़े सुलभ आंके जाते हैं और यह सुलभ होना उनकी कमजोरी समझी जाती है न कि विशेषता। खैर, मेरे स्वभाव का सुलभ भाव अगर दिल्ली से बाहर आने पर दिखाई पड़ने लगता है तो इसका मतलब यह भी तो हुआ कि भीतरी परत तो यही है जो बाहरी मुलम्मे के उतर जाने के बाद दिखाई पड़ती है। अगर ऐसा न होता तो अपने मोबाइल की कॉलर ट्यून की जगह कोयल की आवाज क्यों भर रखी है मैंने? मेरा मोबाइल मेरे पक्ष में निरंतर कूके जा रहा था।

मैं जल्दी से अपना मोबाइल टटोलने लगी मगर यह रिकार्डेड नहीं, सचमुच की कोयल थी जो लगातार 'कहो-कहो, कहो-कहो' का हंकारा देकर हमें संवाद के लिए आमंत्रित कर रही थी।

'अरे, ये काले पहाड़ कैसे?'

देहाती रास्तों के बीच ढीठ की तरह सिर उठाए काले पहाड़ की तरफ इशारा करते हुए मैंने सविता मिश्र की ओर देखा। एक पल को तो वह भी हैरानी से भर उठीं मगर फिर खिलखिला उठीं, 'यह पहाड़ नहीं है, अलका जी। यह तो मिलों से निकला हुआ मलबे का ढेर है...'

रामदरश जी और सविता मिश्र मुझे देख कर हंसते ही जा रहे थे। मैं फिर बुद्धु बनी दोनों का मुंह ताक रही थी। भीतर ही भीतर कोई मुझे चिढ़ा रहा था, 'दिल्ली वाली!'

मैं कुछ हद तक चिढ़ भी गई थी। मगर फिर हंसी आ गई, कैसा बचपना है ये। लगा, मैं सच में उम्र के उसी दौर में जा पहुंची हूं जब खेल में हार जाने के बाद हम एक-दूसरे से रूठ जाया करते थे और फिर कुछ ही देर बाद दोबारा खेलने लगते थे।

हम दोबारा हंसने लगे थे। किसी भी बात पर, चहकती हुई चिड़िया, आसमान और बादल पर। एक तरफ हरे खेत और दूसरी तरफ कच्चे मकान। हमने कार का एसी बंद करवा कर खिड़की खोल दी थी। यह देहाती पगडंडी, खेतों की उन्मुक्त हवा मुझे हमेशा से ही लुभाती रही है। बचपन में स्कूल की छुट्टियों में कुछ दिनों के लिए 'बीरगांव' जाया करते थे। वहां की उन्मुक्तता मुझे अपने में ऐसा बांध लेती थी कि दिल्ली आने के बाद भी मैं उस जकड़न से मुक्त नहीं हो पाती थी।

आज भी जैसे कोई बचपन के नाम से पुकार रहा था। सड़कों की जगह पगडंडियों ने ले ली थी और मैं खेतों की मेड़ों पर उतरती जा रही थी। कूंए के पानी की मिठास मेरे भीतर तक उतरती जा रही थी कि अचानक मिश्र जी ने गाड़ी रुकवा दी, 'कुल्हड़ की चाय पीयोगी, अलका?'

अरे, वाह! मन मांगी मुराद पूरी हो गई जैसे। इसी की तो जरूरत थी।

हम लोग 'नंदन कानन' नाम के उस रेस्तरां में जा बैठे जहां से दूर जाती रेल दिखाई पड़ रही थी। कोई था जो मेरे भीतर से निकल कर खेतों के बीच से दौड़ता हुआ रेल में जा बैठा था, मुझे हाथ हिलाती वह आति मेरे गांव का रुख कर चुकी थी। मैं मन-ही-मन उसे मनुहार कर रही थी कि मेरे मामा-बाबा 'दादी-दादा' को मेरा प्रणाम कहना।

'मगर मामा-बाबा तो रहे नहीं, अब?' उसने सशंकित हो कहा तो मैं ठिठक कर बोल पड़ी, 'जिस तरह न होकर भी तुम मेरे साथ हो, उसी तरह वे भी मेरे साथ हैं...'

कुल्हड़ की चाय आ गई थी। मिट्टी की सोंधी सुगंध से तर हर घूंट, भीतर तक तरोताजा कर रहा था मगर कुल्हड़ बहुत छोटे थे, चार घूंट में ही चाय खत्म। अभी तो स्वाद चढ़ा था और चाय खत्म।

'एक-एक कुल्हड़ और चाय चलेगी?'

अरे, मिश्र जी ने कैसे जान ली मेरे मन की बात!

अगले कुल्हड़ की एक-एक चुस्की बड़े इतमीनान से ली। आंखें दूर तक देखती रहीं। देवदारु के ऊंचे पेड़ उल्लास से झूम रहे थे।

'अजिर में शिशु-से नया रस घोलते हैं,' आसपास खिले फूलों की ओर इशारा करते हुए मिश्र जी ने कहा तो सविता जी ने आगे की पंक्तियां दोहरा दीं, ...ये अबोले फूल कितना बोलते हैं!'

अपने गीत के बोल सुनकर मिश्र जी मुसकरा पड़े और उन्होंने सहर्ष इस गीत को हमें सुनाया। फिर तो गीतों की अंत्याक्षरी-सी चल पड़ी और नंदन कानन गुलजार हो गया। यादगार गीतों का यह कार्यक्रम कुछ और देर चलता मगर मौसम में गरमी बढ़ने लगी थी, लिहाजा नंदन कानन के उस खुशनुमा वातावरण की मोहक यादों के साथ हमने वहां से विदा ली और आगे की यात्रा पर चल पड़े।

मगर मन पूछना चाहता था कि क्या सचमुच मिश्र जी को यात्रएं नहीं भातीं, वे घर-घुस्सु हैं?

शाम घिरने लगी थी, बांसों के झुरमुट से पंछियों का कलरव शोर कर रहा था, बाबा नागार्जुन के शब्दों में पुकार रहा था, 'कालीदास सच-सच बतलाना...'

✧ ✧ ✧

371, गुरु अपार्टमेंट्स, प्लॉट नं.–2, सेक्टर–6, द्वारका, नई दिल्ली–110075
मो. 09910994321, 09868424477

आलेख

# अनुभूतियों एवं संवेदनाओं का रोजनामचा

## डॉ॰ रामदरश मिश्र की डायरी

हरिशंकर राढ़ी

**अनुभूतियों एवं संवेदनाओं के बिना कोई भी मनुष्य रचनाकर नहीं बन सकता, किंतु केवल अनुभूतियाँ और संवेदनशीलता किसी रचनाकार को महान या कालजयी भी नहीं बना सकतीं। यह सर्वमान्य तथ्य है कि एक सफल रचनाकार वही होता है जो आलोचकों के बजाय पाठकों में अपनी पैठ बना ले। यह तभी संभव हो सकता है जब रचनाकार सहज और सरल हो, उसकी अभिव्यक्ति में कुछ कह पाने की सामर्थ्य हो।**

डॉ. रामदरश मिश्र के किसी भी संग्रह से गुजरना एक गहन एवं विस्तृत कालखंड के आमने-सामने बतियाना होता है। यदि कालखंड छोटा हो तब भी उनकी दृष्टि उन्हें बड़ा बना देती है, उसमे शाश्वतता का पुट डाल देती है क्योंकि वे समय के हर पल को जीते और देखते हैं। समय को बाँटना वैसे भी उनके स्वभाव में नहीं है। समय तो एक नदी की तरह है। रामदरश मिश्र के लिए तो वाकई 'दिन एक नदी बन गया' है। उसे बीच से काटना एक सरल-सहज व्यक्ति के लिए तो कतई संभव नहीं है। काटने का प्रयास वे लोग करते हैं जिन्हें समय को अपने अनुसार परिभाषित और निर्धारित करना होता है। ऐसे लोग समय को टुकड़ों में काट-काटकर अपनी सुविधानुसार अपने लोगों में बांटने का प्रयास करते हैं। परंतु मिश्र जी का मन समय को समग्र रूप में देखता है। हाँ, बीच में आए परिवर्तनों का भान उनको होता जरूर है किंतु वे उसे अगले हिस्से से पुनः जोड़ लेते हैं। और देखते-देखते समय की नदी के मोड़ भी अपनी वक्रता को छोड़कर सीधे हो जाते हैं। कई बार ऐसा लगता है कि वर्तमान में वे अपना पूरा अतीत उठा लाते हैं, उसे धरोहर की भाँति ठीक से सजा देते हैं और फिर जैसे अतीत और वर्तमान से कह उठते हों कि दोनों

मिलकर आगे की यात्र करो, भविष्य अपने आप सुंदर बन जायेगा।

अनुभूतियों एवं संवेदनाओं के बिना कोई भी मनुष्य रचनाकर नहीं बन सकता, किंतु केवल अनुभूतियाँ और संवेदनशीलता किसी रचनाकार को महान या कालजयी भी नहीं बना सकतीं। यह सर्वमान्य तथ्य है कि एक सफल रचनाकार वही होता है जो आलोचकों के बजाय पाठकों में अपनी पैठ बना ले। यह तभी संभव हो सकता है जब रचनाकार सहज और सरल हो, उसकी अभिव्यक्ति में कुछ कह पाने की सामर्थ्य हो। प्रश्न अभिधा, लक्षण या व्यंजना का भी नहीं होता, प्रश्न तो पाठक के मन को छूने का होता है और छूते-छूते झकझोर देने का होता है। इसलिए यह सर्वत्र माने जाने लगा कि एक सफल रचनाकार के लिए दंभहीनता, ईमानदारी और सरलता अनिवार्य शर्तें हैं। रामदरश मिश्र इन शर्तों का पालन स्वभावतः करते रहते हैं, इसलिए उनकी रचना का हर वाक्य पाठक को छूकर, गुदगुदाकर और अपनापन देकर आता है। यही कारण है कि उम्र के दशवें दशक में भी उनकी लेखनी से ऊर्जायुक्त रचनाएं निकल रही हैं और पाठक से संवाद करती जा रही हैं।

पठनीयता के व्यसन में इधर प्रो0 मिश्र की दो पुस्तकें हाथ में आई- 'आते-जाते दिन' और 'आस-पास'। नाटक को छोड़कर लगभग सभी विधाओं में प्रचुर और प्रभावशाली लेखन कर चुके मिश्र जी गत दस-पंद्रह वर्षों से डायरी लेखन कर रहे हैं। हिंदी साहित्य में डायरी लेखन बहुत पुरानी परंपरा नहीं रही है और इसकी लोकप्रियता के भी बड़े-बड़े दावे नहीं किये जा सकते। एक बार मिश्र जी ने औपचारिक बातचीत में कहा था कि अबतक बहुत लिख चुका। प्रयास करके लिखना मेरे वश में है नहीं और मैं सहज रूप से आजकल डायरियाँ लिख रहा हूँ। मेरे मन में तबसे उत्सुकता 'प्रतीक्षा करना बेहतर होगा' बनी रही कि मिश्र जी इस विधा को कितनी ऊँचाई प्रदान करते हैं। 'आते-जाते दिन' सन् 2008 में छपकर आई तो उसमें भी वही रस, वही अपनापन, वही सहजता और वही सामाजिक दृष्टि थी जो उनकी कविताओं, कहानियों और उपन्यासों में देखी गई थी।

सामान्यतः देखा जाता है कि लेखक अपनी डायरियों में स्वयं को एक बड़ा विचारक, महान, त्यागी या बौद्धिक दिखाने की कोशिश करते हैं। कमोबेश यह दृश्य आत्मकथाओं में भी होता है। ऐसा पूर्वाग्रह पाठक भी लेकर चलता है, क्योंकि उसे भी किसी के निजी सुख-दुख से कुछ खास नहीं लेना-देना होता है, इसलिए डायरियाँ बहुत कम लोगों की दृष्टि से गुजरती हैं। मिश्र जी की डायरी इस मिथक को तोड़ती है। डायरी के इन पृष्ठों पर न तो कुछ छिपाने जैसा है और न जबर्दस्ती दिखाने लायक। दरअसल, इस डायरी संकलन में रामदरश मिश्र लेखक पर उनका कवि कब्जा किये हुए बैठा है जिसके सामने भोगे गये दिन, प्रीति की ऊष्मा में डूबा हुआ कोई परिचित या मित्र, सहचर साहित्यकार, साहित्यिक गतिविधियाँ या समाज के अंतिम व्यक्ति का मूर्त दुख बड़ी शिद्दत के साथ आकार पाता है। डायरी के अधिकांश पन्ने लेखक को समाज और साहित्य से जोड़ने में लगे हुए दिखते हैं। यह जुड़ाव इतना स्वभाविक दिखता है कि पाठक भी इसके साथ जुड़ता चला जाता है और उसे लगता है कि वह एक पृष्ठ नहीं अपितु एक कालांश और एक संवेदनशील मनुष्य

के बीच का संवाद सुन रहा है।

'आते-जाते दिन' में सन 2003 से लेकर 2007 तक के पन्ने हैं और कुल आठ प्रकरणों में बंटे हैं। इनके प्रकरणों में बंटने से इनकी गति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह विभाजन विषयवस्तु के अनुसार नहीं लगता। विषयवस्तु की प्रासांगिता वैसे भी डायरी विधा में बेमानी ही होती है। किस दिन कौन सी बात जँचेगी और कौन सी चुभेगी कि कागज पर उतरने को विवश हो जायेगी, इसका कोई क्रम नहीं होता। यह तो संयोग, परिस्थिति, लेखक की संवेदनशीलता एवं मानसिकता होती है। महत्वपूर्ण तो यह है कि उसका सामाजिक-साहित्यिक सरोकार कितना है? क्या वह पन्ना अपने अनुभवों एवं अनुभूतियों से किसी और का मन भी छू रहा है? या फिर उसमें यदि किसी मुद्दे पर प्रतिक्रिया दी गई है तो वह तर्क और भाव के पक्ष पर कितनी खरी उतरती है? यदि कोई विमर्श चलाया गया है तो उसके पीछे कोई सद्भावना है या फिर चंदन लगाकर पुजारी बनने का प्रयास किया गया है?

रामदरश मिश्र का यह डायरी संकलन इन सभी प्रश्नों से सकारात्मक रूप से टकराता है और बिना किसी बनावट के अपने हिस्से का सुख-दुख पाठक को 'जो है, जैसा है' के प्राकृतिक भाव से समर्पित कर देता है। हाँ, यह कहना यहाँ जरूरी हो जाता है कि इस प्राकृत देयता में शिष्टाचार का उल्लंघन कहीं से नहीं हुआ है। वस्तुतः उल्लंघन की कल्पना मिश्र जी से की ही नहीं जा सकती। वस्तुतः डायरी के हर पृष्ठ से बड़ी आत्मीयता से बातचीत की गई है। प्रायः ऐसा लगता है कि मिश्र जी के लिए डायरी के पृष्ठ एक सजीव सहचर और साक्षी हैं और साक्षी से न तो झूठ बोला जा सकता है और न दिखावा किया जा सकता है। निजी अनुभवों और यात्रओं के वर्णन में कुछ अतिशयोक्ति या गोपन की गुंजाइश हो सकती है, किंतु जहाँ साहित्य से जुड़ी किसी चर्चा या गोष्ठी का प्रश्न हो या कोई समसामयिक विमर्श हो, वहाँ सत्य और तथ्य आसानी से तोड़े नहीं जा सकते। यदि कोई तोड़ने-मरोड़ने का कार्य करता है तो पाठक की नजर से बच नहीं पाता। मिश्र जी की डायरी के अधिकांश पन्नों पर साहित्यिक विमर्श अनौपचारिक एवं बड़े सरल ढंग से प्रकट होता है। प्रायः साहित्य के झंडाबरदार इस प्रकार के विमर्श में रूचि नहीं लेते। विमर्श के लिए उन्हें एक अदद मंच, लाउडस्पीकर, जाने-माने विचारक और चिंतक तथा विचारधारा विशेष के कुछ 'प्रबुद्ध' श्रोताओं की दरकार होती है। वहीं से वे साहित्य की धारा सुनिश्चित करते हैं और यह भी उम्मीद जगाते हैं कि मंतव्य विशेष के साहित्य से समाज में समग्र क्रांति आएगी। यह बात दीगर है कि विमर्श की वह आवाज ऑडीटोरियम के बाहर नहीं आ पाती और आती भी है तो अखबार-लघुपत्रिका के किसी उपेक्षित से कोने में जिसके पाठक विलुप्तप्राय प्रजाति की श्रेणी में आते हैं।

रामदरश मिश्र की डायरी में विमर्श तो हैं, किंतु गरियाने के लिए नहीं, एक अच्छा माहौल बनाने के लिए। वे साहित्य में मठाधीशी के प्रखर आलोचक हैं। 'आते-जाते दिन' में दिनांक 15.06.2006 के पृष्ठ पर वे बड़े व्यंग्यात्मक लहजे में लिखते हैं- 'हिंदी के कुछ प्रभावशाली कवि,

कुछ कहानीकार, कुछ आलोचक मिलकर मुख्यधारा का निर्माण किए हुए हैं। यानी कि वे ही फैसला करते हैं कि कौन मुख्य धारा में रहेगा और किसे हाशिये पर फेंक दिया जायेगा। जो लोग उनसे जुड़ते हैं, उनकी जय-जयकार करते हैं, वे मुख्यधारा में शामिल कर लिये जाते हैं और शामिल होने वाले लोग अपनी छोटी-छोटी औकात लिये यों तनकर चलते हैं जैसे उसके सामने रामचंद्र शुक्ल, प्रसाद, निराला, प्रेमचंद, जैनेन्द आदि क्या चीज हैं।' जाहिर है कि वर्तमान साहित्यिक गिरोहबाजी पर ऐसी बेबाक और व्यंग्यात्मक टिप्पणी के बाद कहने के लिए कुछ शेष नहीं रहता। यह भी सच है कि साहित्य जगत में जिस स्थान एवं सम्मान को मिश्र जी ने बिना किसी गिरोहबाजी और चाटुकारिता के प्राप्त किया, वह अपने आप में एक अजूबा और उपलब्धि है। यह युग आचार्य द्विवेदी, रामचंद्र शुक्ल, रामविलास शर्मा का नहीं है कि चर्चा एवं विमर्श गुणवत्ता आधारित हो। हिंदी साहित्य में पिछले तीन-चार दशकों में 'अंधा बांटे रेवड़ी, चीन्ह-चीन्ह के देय'' की अघोषित परंपरा मजबूत होती गई है और कई ऐसे कवियों एवं लेखकों को उत्कृष्ट लेखक होने का प्रमाणपत्र जारी किया जिनका नाम तक सामान्य पाठक के जेहन में नहीं रहा होगा। आलोचकों और साहित्यकारों के ऐसे लाडले 'रचनाकारों' ने साहित्य को जनता से दूर करने में अतुलनीय योगदान दिया। लेखनकार्य संगठन में शामिल होने से नहीं आता और गुणवत्ता भी किसी थोपी विचारधारा से सामंजस्य नहीं बिठा पाती। इस सत्य को मिश्र जी समझते हैं और उनके लिए सबसे अधिक प्रीतिकर यह होता है कि कोई गैरसाहित्यकार उनके लेखन से प्रभावित हो। इसमें समय लगता है और उन्होंने इसे ठीक से महसूस किया है। यह बात अलग है कि इस मुकाम तक पहुँचने में मिश्र जी को समय लगा जिसकी तस्दीक उन्होंने अपनी एक गजल में की है। उसकाएक प्रसिद्ध शेर है-

जहाँ आप पहुँचे छलांगे लगाकर / वहाँ मैं भी पहुँचा मगर धीरे-धीरे।

धीरे-धीरे ही सही, मिश्र जी ने बहुत लंबी यात्रा की है और उन्हें अपनी यात्रा का कदम-दर-कदम याद है। हर कदम को उन्होंने जिया है और उसके चिह्नों को बचाकर भी रखा है। हर अनुभूति को अनुभव की धीमी आँच पर पकने के बाद ही वे बाहर आने देते हैं। ये अनुभूतियाँ और अनुभव मीठे और कसैले दोनों ही प्रकार के हैं। किशोरावस्था की प्रथम कविता से वाया बनारस व गुजरात उम्र के आठवें दशक तक की निजी और साहित्यिक यात्रा के संस्मरणात्मक फोटोग्राफ कहीं से धुँधलाने नहीं देते हैं। दोनों डायरियों में उन्होंने अपने गैर साहित्यिक कार्यक्रमों एवं संबंधों पर लिखा है। यह बात अलग है कि उनकी गैर साहित्यिक गतिविधियाँ भी साहित्यरस से बच नहीं पातीं। संबंधों को सहजता एवं सहृदयता से निभाने में विश्वास रखने वाले मिश्र जी न जाने कितने आत्मीय संबंधों की चर्चा करते हैं परंतु स्वार्थ में सने मौकापरस्त मित्रों का जिक्र करने से नहीं चूकते।

ऐसे दो तीन जिक्र 'आते जाते दिन' और 'आस-पास' में आते हैं। कुछ भूले-बिसरे संबंधों को वे ढूँढ़-ढाँढ़कर इसलिए लाते हैं कि उनके माध्यम से वे अपने अतीत के अपनत्वपूर्ण दिनों को दुबारा जी लेंगे। उन स्मृतियों को वे एक बार फिर से सजीव रूप में उन मित्रों के साथ

संभवत: बीते हुए काल से निकालकर वर्तमान में रख लेंगे। कुछ देंगे और कुछ लेंगे। लेकिन उनकी उम्मीदों पर तब पानी फिर जाता है जब वे पाते हैं कि वे मित्रगण अपने बालसखा या साहित्यकार रामदरश मिश्र की तलाश में नहीं, अपितु एक स्रोत की तलाश में आए हुए हैं। उन्हें या तो आर्थिक मदद की जरूरत होती है या फिर उनकी किसी राजनीतिक या अन्य प्रकार की ऊँची पहुँच की। 'आते जाते दिन' में दिनांक 11.04.2006 का एक पृष्ठ ऐसे कई उदाहरण देता है। मिश्र जी एक को छोड़कर कई बालसखाओं का नाम लिए बिना अपना संस्मरण देते हैं और निष्कर्ष स्वरूप लिखते हैं- 'जिन-जिन पुराने मित्रों को याद करता रहा हूँ और जिनसे न मिल पाने की तड़प महसूस करता रहा हूँ, उनमें से कइयों से कभी भेंट हुई तो मोहभंग हो गया।' एक आलोचक और वरिष्ठ साहित्यकार के रूप में नवोदित लेखकों का उत्साहवर्धन करने या उन्हें सही रास्ता दिखाने में वे आना-कानी नहीं करते, किंतु कवि होने का दंभ पाले बहुत से कवि जब अपनी रचनाएँ उन पर थोपना चाहते हैं या उनसे अपने संग्रह की भूमिका लिखवाना चाहते हैं तब उनकी नैतिकता और स्वाभिमानी कवि चढ़ जाता है। वे इन बातों का जिक्र डायरी में करते हैं और उसमें इतनी निश्छलता होती है आज के साहित्य जगत में पनपी पारस्परिक गुणगायन की परंपरा पर क्षोभ सा होने लगता है। यह सच है कि नवोदित रचनाकारों का उत्साहवर्धन एवं उनकी रचनाओं का परिमार्जन अवश्य होना चाहिए। किंतु जहाँ रचनात्मक प्रतिभा का सर्वथा अभाव होते हुए रातों-रात प्रसिद्धि की भयंकर कामना हो, वहाँ साहित्य की रक्षा के लिए इस प्रकार का कठोर कदम उठाना ही चाहिए और स्तरहीनता को बढ़ावा देने से बचना चाहिए। आखिर एक सच्चे रचनाकार का कर्म यह भी होता है कि वह साहित्य को कबाड़ी की दुकान होने से बचाये।

मिश्र जी प्राय: कहते रहते हैं कि वे एक सच्चे मार्क्सवादी हैं। यह बात उन्होंने एक बार मुझसे भी साक्षात्कार में कही थी। तब मैं मिश्र जी के साहित्य से अपरिचित नहीं था। उनके मार्क्सवादी स्वर का भान मुझे था। लेकिन इस आधार पर कभी-कभी मेरे मन में संदेह होता था कि यदि ऐसा है तो मार्क्सवादी का समूह उन्हें अपना क्यों नहीं मानता? मानने की बात तो अलग है, तथाकथित मार्क्सवादी चिंतक-आलोचक उनसे परहेज क्यों करते हैं? उनके मार्क्सवाद की वर्तनी में ऐसा क्या दिक्कत है कि यहाँ भी उनकी उपेक्षा हो रही है। कुछ और सोचने तथा देखने के बाद पता लगा कि जो विसंगतियाँ जीवन के अन्य क्षेत्रों में मिलती हैं, वही विसंगतियाँ मार्क्सवाद के तथाकथित झंडाबरदारों में भी हैं। दरअसल आज-कल व्यक्ति विचारधारा के बजाय अपने समूह और राजनीतिक सक्रियता से पहचाना जाता है। उसके हाथ में विचारधारा विशेष का झंडा होना चाहिए, उसकी निजी विचारधारा कुछ अलग भी हो सकती है। रामदरश मिश्र किसी विचारधारा के जुलूस में शामिल नहीं हुए, किसी राजनीतिक साहित्यकार के मंच पर नहीं चीखे और केवल वाणी से मार्क्सवाद का बिगुल नहीं फूँकें, इसलिए उन्हें मार्क्सवादी मान लेना उन सभ 'तपस्वियों' का अपमान होगा जो कुछ असल मार्क्सवाद पर लिखने और कर दिखाने के बजाय ताउम्र झंडा ही ढोते रह गए।

मिश्र जी की कविताओं को देखा जाय तो उनमें समाज के अंतिम व्यक्ति के प्रति सम्मान और सहानुभूति है। इन दो डायरी पुस्तकों के अतिरिक्त उनके निबंध और संस्मरण संग्रहों में भी मार्क्सवादी स्वर को सर्वत्र सुना जा सकता है। जिस जगह उन्हें ठेले-रेहड़ी या सड़क छाप ढाबे वालों के इर्द-गिर्द पेट की आग बुझाते मजदूर दिख जाते हैं, उन्हें वास्तविक आनंद आ जाता है। सड़क किनारे के ढाबे में सुबह-सुबह भगोने में भदभदाती दाल की आवाज उन्हें बहुत संगीतमय लगती है। वे उस गरीब रिक्शेवाले का दर्द समझते हैं जो पूरे दिन अपने परिवार के लिए अपने सीने और फेफड़ों को भभकाकर सवारियाँ ढोता रहता है और तथाकथित 'एलीट क्लास' की गालियाँ खाता रहता है। शहरों में पुल के नीचे ईंट के चूल्हे पर रोटियाँ सेंकती पत्नी अपने पति को खिलाती और निहारती है तो उनमें मिश्र जी को सर्वोत्तम प्रेम और सहकार नजर आता है। ऐसा कोई दृश्य आते ही मिश्र जी भावुक हो जाते हैं और स्वयं के वीआईपी न होने का सुख बड़ी शिद्दत महसूस करते हैं। बेहद मुरौवती होने के बावजूद वे कई बार सामान्य व्यक्ति के प्रति हो रहे अन्याय को बर्दाश्त नहीं कर पाते। डायरी में ऐसे अनेक प्रसंगों का जिक्र है। ऐसे समय वे अपनी धर्मपत्नी श्रीमती सरस्वती जी का जिक्र भी प्राय: कर बैठते हैं क्योंकि वे अपेक्षाकृत अधिक बोल्ड हैं और सड़क पर चलते किसी भी निरीह मनुष्य के पक्ष में वे खड़ी हो जाती हैं।

धार्मिक दृष्टि का आकलन किया जाए तब भी रामदरश मिश्र जी मार्क्सवाद की पूरी रौ में दिखते हैं। धर्म के नाम पर हो रहे आडंबरों एवं आयोजनों से उन्हें बहुत चिढ़ है। एक सभ्य समाज में यह सर्वथा अनुचित है कि आप अपनी आस्था के नाम पर पूरे मोहल्ले की शांति और नींद खराब करें। भगवती जागरण और रामायण पाठ के नाम पर ध्वनिविस्तारकों का कनफोड़ू आयोजन कहीं से धार्मिक और आध्यात्मिक नहीं कहा जा सकता। यदि आस्था है भी तो वह निजी प्रसंग है और उसे निजता से बाहर नहीं आने दिया जाना चाहिए। 'आस-पास' में दिनांक 06.01.2008 के पन्ने पर एक ऐसे ही भगवती जागरण को रूकवाने का असफल संघर्ष वर्णित है। विडंबना यह है कि यह जागरण एक गोलगप्पे वाला करवा रहा है, जिसे गोलगप्पे की दूकान चलवानी है और वह शायद भगवती जागरण की कृपा से चल जाए। भारतीय समाज की अंधविश्वासिता पर मिश्र जी बहुत व्यथित होते हैं और व्यंग्यात्मक लहजे में कहते हैं कि देवी-देवताओं के जिम्मे एक काम यह भी आ गया है कि वे भक्तों की दूकान भी चलवाएं। इसी संग्रह में दिनांक 01.05.2007 के पन्ने पर उनकी शिक्षकीय जाँच-परख देखने को मिलती है और एक विकसित दृष्टि का नमूना भी। विश्वविद्यालयी शिक्षा में अध्यापकों के गिरते स्तर और साहित्य को न समझ पाने का दर्द इस पन्ने पर तार्किक दृष्टि से विश्लेषित किया गया है। वे लिखते हैं-'कई अध्यापक ऐसे होते हैं जिनकी मेधा तो प्रखर होती ही है, वे साहित्य और साहित्यशास्त्र एवं अन्य विषयों की पुस्तकों का गहन मंथन भी करते हैं और छात्रों को साहित्य की नई समझ से सम्पन्न करते हैं। ...एक वे हैं जो साहित्य और साहित्यशास्त्र का मंथन तो करते हैं किंतु उनकी दृष्टि न तो रचनात्मक होती है और न

आधुनिक। वे अपने समय की चेतना के संदर्भ में शास्त्र या आलोचना को नई दिशा नहीं दे पाते, वे चिंतन को उद्घाटित तो करते हैं किंतु उसे नया आयाम नहीं दे पाते। उन्हें आचार्य नहीं कहा जा सकता।' वस्तुतः डायरी के इस पन्ने पर मिश्र जी साहित्य की दुर्गति करने वाले अधयापकों पर पूरी लानत भेजते हैं और कहीं न कहीं शिक्षातंत्र में आए भटकाव से बहुत व्यथित नजर आते हैं। विश्वविद्यालयों द्वारा जुगाड़तंत्र के अधीन प्रदान की जाने वाली पीएचडी की डिग्रियों की वास्तविकता उनके अध्यापक को बहुत चिढ़ाती है। जाहिर है कि ऐसे विचारों से संपन्न व्यक्ति किसी भी कोण से किसी एक पंथ का नहीं कहा जा सकता और वह एक सच्चा मार्क्सवादी कहलाने का अधिकार रखता है, किंतु उन्हें कुछ भी मांगकर या जुगाड़कर लेना किसी भी प्रकार नहीं सुहाता।

मिश्र जी अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों से नहीं भागते। समाज उनके लिए जीवन का एक अनिवार्य अंग है, किंतु वे सामाजिक संस्थाओं में शुचिता और आदर्श के समर्थक हैं। उनका समाज केवल नियम बनाने और बलपूर्वक उसका पालन कराने हेतु नहीं बना है। जब तक समाज में समता नहीं स्थापित होगी, सामाजिक आदर्श खोखले ही रहेंगे। 'आते-जाते दिन' में 'बाहरी-भीतरी यात्रएँ' के अंतर्गत विवाह समस्या पर मिश्र जी ने गहन एवं संतुलित विचार प्रस्तुत किया है। आधुनिकता और अर्थपरता की दौड़ में हाँफता-डाँफता समाज टूटन और विखरन की कगार पर खड़ा हो गया है। पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से वैवाहिक संस्था लांक्षित हो रही है। इस क्रम में विवाह के मूल में मानवीय मूल्य, स्त्री-पुरूष का एक दूसरे के प्रति आकर्षण और सृजन की भावना का जिक्र करते हैं। मनुष्य अपनी दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति पशुओं की भाँति न करके उत्तरदायित्व एवं रचनात्मक की पूर्ति के लिए करे, एक संस्कृति का निर्माण करे और अगली पीढ़ी के लिए मानवीय आदर्शों की विरासत छोड़कर जाए, शायद यही उद्देश्य रहा हो वैवाहिक संस्था का। किंतु संयुक्त परिवारों के टूटने का प्रभाव समाज पर यह पड़ा कि विवाह एक सामाजिक बंधन न होकर एक निजी बंधन रह गया और उसके पीछे का सुरक्षा कवच टूटता गया। परिणामस्वरूप विवाह की विश्वसनीयता घटी है किंतु लिव-इन-रिलेशनशिप के इस दौर में भी विवाह की प्रासंगिकता अभी सामाप्त नहीं हुई है। वैवाहिक संस्था पर अपने इस विश्वास के बाद मिश्र जी इसी पन्ने पर स्त्री की शक्ति और महत्ता को रेखांकित करते हैं। यहाँ ये पुरूष समाज द्वारा स्त्री जाति को दी गई यातनाओं और प्रतिबंधों का जिक्र करना नहीं भूलते और परंपरावादी सोच को ही वे नारी सशक्तीकरण की सबसे बड़ी बाधा मानते हैं। स्त्री शिक्षा से समाज के न जाने कितने सड़ियल मिथक टूट रहे हैं और स्त्री मजबूत होकर उभर रही है। विवाह से विमुख होती जा रही पीढ़ी के प्रति उनका मन कलुषित तो नहीं दिखता, हाँ इसे वे पलायनवाद जैसा जरूर मानते हैं और मानव जाति के भविष्य पर प्रश्नचिह्न खड़ा करते हैं। वैवाहिक संस्था के बिना उत्पन्न संतानों का क्या भविष्य होगा, यह अकल्पनीय नहीं है। इस समस्या पर एक कदम आगे बढ़ते हुए वे कहते हैं-'हाँ,

यदि स्त्री-पुरूष छाती ठोंककर उस सृजन को अपना घोषित करते हैं और हमारी समाज-व्यवस्था तथा कानून में उसकी सम्मानपूर्ण जगह बनती हो तो कोई हर्ज नहीं।'

प्रसंग डायरी लेखन का हो और निजी जीवन प्रतिबिंबित न हो, यह संभव नहीं। मिश्र जी डायरी के पन्नों पर अपने निजी वैवाहिक जीवन और परिवार के सुख-दुख को सहजता से साझा करते हैं। 'आते-जाते दिन' में दिनांक 05.07.2006 के पन्ने पर वे अपने वैवाहिक जीवन की अट्ठावनवीं वर्षगांठ को जीते हुए दिखते हैं। इसमें संदेह नहीं कि पुरानी पीढ़ी के लोग ऐसे दिवसों, आयोजनों एवं औपचारिकताओं में संकोच महसूस करते हैं। उचित भी है क्योंकि उस समय की वैवाहिक संस्था पति-पत्नी के बीच 'सॉरी' और 'धन्यवाद' रहित थी। इतनी एकात्मकता होती थी कि पति-पत्नी को एक दूसरे से अलग मानते ही नहीं थे और ऐसी स्थिति में इन शब्दों का महत्व शून्य हो जाता है। अस्तु, मिश्र जी को इस वर्षगांठ की याद एक परिचित द्वारा दिलाई जाती है। फिर तो उन्हें अपनी इस यात्रा के पड़ाव-दर-पड़ाव याद आने लगते हैं। औपचारिक आयोजनों से जितनी प्रसन्नता मिलती, उससे कहीं अधिक उन स्मृतियों से मिलती है। वे याद कर उठते हैं-'रह-रहकर याद आते रहे वे महकते हुए दिन जो विवाह के सद्यःपश्चात उससे फुटे थे, जिन्होंने हमारे समय को इंद्रधनुष की तरह सतरंगी बना दिया था।' पत्नी सरस्वती जी का वे बहुत सम्मान करते हैं और स्वयं को 'धरधुसरा' की संज्ञा से विभूषित करने के उपरांत यह मान लेते हैं कि पत्नी की बोल्डनेस एंव सक्रियता ने उन्हें काफी हद तक 'धरधुसरा' की प्रवृति से होने वाले नुकसान बचा लिया है। उनकी कर्मठता के वे ऋणी हैं और बड़ी सहजता से वे कह उठते हैं-

कुछ फूल कुछ काँटे, हमने आपस में बाँटे / जीवन के हर मोड़पर
हमने एक-दूसरे का इंतजार किया है / हाँ हमने प्यार किया है।

मेरी दृष्टि में आई दोनों डायरियाँ मिश्र जी के विषय में कोई नया रहस्य तो नहीं खोलती, हाँ मिश्र जी के लेखक और व्यक्ति में एक सुंदर सामंजस्य बिठाने में बड़ा योगदान करती हैं। इनमें भी वही रस है जो उनकी कहानियों, कविताओं और संस्मरणों में मिलता रहा है। सच तो यह है कि डायरी के ये पन्ने रामदरश मिश्र को मजबूती प्रदान करते हैं और उनकी संवेदनशीलता और सहजता को एक साथ रेखांकित करते हैं। हाँ, पन्नों पर इतना कुछ है कि एक छोटे से आलेख में सबको समेटा नहीं जा सकता। विषयवस्तु को भले न समेटा जा सके, लेख को तो समेटना पड़ेगा ही, बस इस आग्रह के साथ कि यदि छोटी-छोटी संवेदनाओं सहित बड़े किंतु ईमानदार विमर्शों से गुजरने की इच्छा हो तो इन डायरी संकलनों का विकल्प बहुत ही अच्छा रहेगा।

✧ ✧ ✧

176 (फ्लैट नं-2, अपर ग्राउंड फ्लोर), वार्ड नं-3, मेहरौली, नई दिल्ली-30,
संपर्क-011-26644751, 9654030701, E : hsrarhi@gmail.com

डॉ॰ रामदरश मिश्र की आत्मकथा

# सहचर है समय : यहाँ से वहाँ तक

डॉ. चन्द्रकला त्रिपाठी

**सब कुछ लिखने के बाद भी एक बड़ी बेचैनी शेष रह जाती है। हर हालत में 'खुद' को लिखने की बेचैनी। यही रचनाकार व्यक्ति का मुक्तिपथ है। इसे औरों के बहाने लिखा जाए या अपने बहाने, इसका लिखा जाना जरूरी होता है। रामदरश मिश्र के लेखक की भी यही बेचैनी थी। इन कथा की पंक्तियों में खुलने के लिए उसका व्यक्ति उतना बेचैन नहीं था जितना वह परिवेश जिसने उन्हें अनुभवों की अदभुत पोटलियाँ सौंपी और सौंपी वे छोटी-छोटी वेदनाएँ जो धीरे-धीरे बड़ी होती गई तथा संवेदनशील लेखक की सबसे कीमती चीज बनती गई।**

आलेख

**''यह एक वर्तुल जिन्दगी थी,**
**जिसमें तमाम चीजें एक**
**दूसरे में समाई हुई थीं।**
**जिन्दगी खानों में बंटी हुई नहीं थी।''**

ये पंक्तियाँ रामदरश मिश्र की आत्मकथा के प्रथम खण्ड की हैं। उनकी आत्मकथा के पाँचों खण्ड 'सहचर है समय' के अन्तर्गत एक साथ आ गये हैं। ये पाँचों खण्ड अलग-अलग लिखे गए और प्रकाशित भी हुए, इसलिए स्वाभाविक है कि इनकी अंतर्वस्तु के कसाव में, वर्णन की त्वरा में और प्रस्तुती की व्यवस्था में किंचित भिन्नता की स्थिति बनी। यह स्थिति इसलिए भी बनी कि प्रत्येक रचनाकार की अपनी कुछ अनुकूलताएँ होती हैं, अपने कुछ चुनाव होते हैं। रामदरश मिश्र के रचनाकार को थहाया जाए तो वहाँ आज भी 'गौरी' और 'राप्ती' के मनमाने जल के साथ अपने को सधाता उनका गाँव डुमरी मिलेगा, वहाँ के लोग-बाग, खेत-बगीचे, भूत-प्रेत, देवी-देवता, बाढ़-महामारी, फागुन-चैत, उत्सव-त्योहार, गति और संस्कार मिलेंगे और मिलेगा एक निपट देहाती मन जो छूटते ही कहेगा- 'हम पूरब से आए हैं।'

यही कारण है कि आत्मकथा वहाँ तक सघन सर्जनात्मक है, जहाँ तक इस गाँव-घर की बातों-स्मृतियों और परिदृश्यों का भराव लेखक को मिलता गया है। जैसे-जैसे लेखक

का व्यक्तिगत संघर्ष अपनी जगह लेता है, आत्मकथा में तत्परतापूर्ण ब्यौरों की प्रधानता बढ़ती जाती है। अनेक नाम और अनेक घटनाएँ, जल्दी-जल्दी लेखक की आत्मकथा में झांकते हैं और ओझल हो जाते हैं। रामदरश मिश्र की आत्मकथा उत्तरप्रदेश के एक सर्वथा पिछड़े हुए, आर्थिक और प्राकृतिक आपदाओं से जर्जर गाँव 'डुमरी' से शुरू होकर देश की राजधानी दिल्ली में टेक लेती है। 'जहाँ मैं खड़ा हूँ' से प्रस्थान लेते हुए वह कहता है कि यह उसकी कथा होने से ज्यादा उस परिवेश की गाथा है, जहां उसके व्यक्ति और रचनाकार के संस्कार निर्मित हुए।

बड़े-बड़े रचनाकार के लिए उसकी आत्मकथा से बढ़कर चुनौती और उससे बढ़कर थाती कोई दूसरी नहीं होती। सब कुछ लिखने के बाद भी एक बड़ी बेचैनी शेष रह जाती है। हर हालत में 'खुद' को लिखने की बेचैनी। यही रचनाकार व्यक्ति का मुक्तिपथ है। इसे औरों के बहाने लिखा जाए या अपने बहाने, इसका लिखा जाना जरूरी होता है। रामदरश मिश्र के लेखक की भी यही बेचैनी थी। इस कथा की पंक्तियों में खुलने के लिए उसका व्यक्ति उतना बेचैन नहीं था जितना वह परिवेश जिसने उन्हें अनुभवों की अदभुत पोटलियाँ सौंपी और सौंपी वे छोटी-छोटी वेदनाएँ जो धीरे-धीरे बड़ी होती गई तथा संवेदनशील लेखक की सबसे कीमती चीज बनती गई। देखना सीखते ही लेखक के चारों ओर अपनी छोटी-सी दुनिया जो धीरे-धीरे देखी, घर-परिवार, संगी-साथियों, खेत-खलिहानों, नदियों-कछारों की वह करीबी दुनिया जो धीरे-धीरे फैली और जटिल होती गई। जिन्दगी का गणित कभी सीधे, कभी उलझे हुए हलों में उतरता गया। जीवन-संघर्ष ने भी कभी शक्ति दी तो कभी आहत किया। कभी कुछ जोड़ा तो कभी कुछ तोड़ दिया। आत्मीय जन कई-कई कदम साथ चले, अनात्मीयों ने कई रास्ते बन्द किये। सुख-दुख का हिसाब सन्तोष के बँटवारे से ही बराबर हो पाया। व्यक्ति रामदरश मिश्र को प्यार करना जानने वालों का प्यार मिला। साहित्यकार रामदरश मिश्र को पाठकों और निर्कुण्ठ आलोचकों का व्यापक स्वीकार। कुल मिलाकर जिन्दगी ने भरी-पूरी टेक ली मगर इस पूरी यात्रा के उतार-चढ़ाव तो थे और उनका देना-पावना भी।

आत्मकथा के प्रथम खण्ड में लेखक के किशोर व्यक्तित्व की रेखाएँ हैं। यह व्यक्तित्व भावुक और जीवन के तमाम रंगों के प्रति उत्सुक है। परिवेश की कठिनाइयाँ उसे मर्माहत करती हैं। जीवन को यह निर्दोष फूलों की तरह खिलते हुए देखना चाहता है। निम्नवर्गीय जीवन के दुखते हुए सवाल उसे हैरान करते हैं। इनके दु:खों से उसे गहरा अपनापन है। यह अपनापन उसे अपने भोले और सैलानी पिता से विरासत में मिला है जो इस जीने में रचे-बसे हैं। इस विलयन से ही लेखक को अभावों में भी स्वाभिमानपूर्वक जीने की सीख मिलती है। यहीं से उसकी प्रगतिशील चेतना भी निर्मित हुई जिसके द्वारा वह जीवन और साहित्य को उसकी वास्तविक प्रक्रिया में देख पाया। वैरागी चित्त वाले बड़े भइया, हरफनमौला मझले भैया, कर्म और संगीत की लय में रची-बसी स्वाभिमानी माँ, अपनी-अपनी मस्तियों में बेखुद संगी-साथी और प्रकृति के तमाम-तमाम रंग, इनसे भरपूर होकर लेखक की एक बेहद प्यारी दुनिया बनती है जो पीड़ाओं से तार-तार है मगर आत्मीय है। 'जहाँ मैं खड़ा हूँ' में लेखक ने इसे गहरी ललक के साथ लिखा है। यहाँ प्रकृति से गहरे जुड़ाव से

उसके साहित्यकार का सौन्दर्य बोध निर्मित होता है और गांव की जिन्दगी और लोगों के चरित्र की विलक्षण विविधता उसे चरित्रों को उनकी सूक्ष्मता में जानने की दृष्टि दे जाती है। 'जहां मैं खड़ा हूँ' में जिन चरित्रों को लेखक ने आकार दिया है उनमें बच्चा बाबू, नरेश भाई, भिरखू चाचा, कन्नू भाई, पोलई हरिजन, बेचू भाई, पूजन भाई, छेदीराय के साथ-साथ अपने दर्द की मस्ती में डूबा भोला सुखराम, गाँव भर की मंगल-कामना का साकार रूप सुखदेई बुआ आदि के चरित्र अनूठे हैं। इन चरित्रों की मानवीय गमक को अपने भीतर संजोए लेखक जिस देखे-अनदेखे रास्ते तक चल पड़ता है, उसे नाम देता है-'रोशनी की पगडंडियाँ।'

ये पगडंडियाँ 'बनारस' के आत्मीय वातावरण तक लेखक को ले जाती हैं। इस खंड में ढरसी स्कूल के राष्ट्रभाषा विद्यालय से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय तक की यात्रा का वर्णन है। यहाँ युवक रामदरश मिश्र की काव्य प्रतिभा उठान पर हैं। ये दिन जिन्दगी के बड़े संघर्षों की तैयारी के दिन हैं। उसके व्यक्ति की भावुकता थोड़ी झर गई है। उसकी जगह पर चीजों को ठीक से जानने का विवेक रूप ले रहा है। नए संगी-साथी, नई गतिविधियाँ और नए संकटों की संभावनाएँ बन रहीं हैं। ठाकुर प्रसाद सिंह, शम्भुनाथ सिंह, नामवर सिंह, शिवप्रसाद सिंह, श्रीश कुमार जैसे सुहृद हैं। अचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जैसे गुरू जन। जिन्दगी के इन पृष्ठों पर पत्नी भी साथ-साथ है। उसके संवेदनशील मन को सुखी-दु:खी करने वाले अनेक प्रसंग हैं किन्तु 'डुमरी' गांव की बेहद कठिन जिन्दगी का अभ्यस्त मन इस संकुचन और फैलाव से जीना सीखता है। त्रिलोचन जी बनारस को भी एक किस्म का देहात मानते हैं और सम्भवत: यह सही भी है क्योंकि बनारस ने रामदरश मिश्र के भीतर का वह सब कुछ बना दिया जो उनका निजी था, विशिष्ट था और मानवीय था।

तीसरे खंड को लेखक ने नाम दिया-'टूटते बनते दिन'। इस खण्ड में उसका आत्मसंघर्ष बहुत कठिन हो उठा है। आजीविका का सवाल अपनी समूची निर्ममता के साथ सामने आता है। उत्तरदायित्वों से भरे इसे कठिन पथ पर पाँव बड़ी मुश्किल से आगे बढ़ पाते हैं। यहाँ यात्रा बनारस से गुजरात तक की है। बनारस अब अपनी आत्मीयता के बावजूद सवाल हो चला है। स्पष्ट-अस्पष्ट प्रतिद्वंद्विताएँ हैं। नया समाज और नए सामाजिक सम्बन्ध हैं। बढ़ता हुआ परिवार और उसकी जिम्मेदारी है। भीतर तक महक जाने वाले सुखों की राशि धीरे-धीरे घट रही है। संघर्ष पथ की संभवत: यही नियति होती है। आत्मरक्षा के इस खण्ड की महत्त्वपूर्ण बात लेखक की निरन्तर दृष्टिवान होती हुई साहित्यिक सक्रियता है। अनेक साहित्यकारों और चिन्तकों से उसकी अन्तरंगता बनती है। साहित्यिक गतिविधियों में भागीदारी बढ़ती है और वह एक समर्थ रचनाकार के रूप में उभरने लगता है। उसके लिए यह प्रसन्न साहित्यिक वातावरण है जिसमें सहमतियों और असहमतियों के मूल में व्यक्तिगत कुण्ठाएँ काम नहीं करती। स्वस्थ आपसी संवाद हैं। यह वह जमीन है जहाँ उसके सभी समकालीन साहित्कार संगी अपनी जड़े पकड़ रहे हैं। दृष्टि-सम्पन्न हो रहे हैं। अभाव उन सबके जीवन का प्रमुख भाव है। यहाँ आकर लेखक को अभाव का स्वर कुछ बदला हुआ लगता है। वह लिखता है-'आर्थिक अभाव और तज्जन्य स्थितियाँ बचपन में भी झेली

थीं किन्तु तब मैं उत्तरदायित्व से मुक्त था और जैसा था वैसा रह लेने में कोई कुंठा नहीं व्यापती थी किन्तु अब तो बीबी और बच्चे का भार मेर ऊपर था।'

बच्चा था हेमंत जो प्रायः बीमार रहता था। बाद में तो उसकी बीमारी ने लेखक दम्पति को मार्मिक निरूपायता की परिस्थितियों में भी डाल दिया। वह भी परदेश में। तीसरे खण्ड में लेखक के व्यक्ति और रचनाकार का वर्गीय आधार स्पष्ट हो जाता है। सोच और संवेदना की उसकी प्राथमिकताएँ तय हो जाती हैं। द्वन्द्व-अर्न्तद्वन्द्व और निर्णय का स्वभाव साफ हो जाता है। 'टूटते बनते दिन' की यात्रा गुजरात तक की है। गुजरात में कुछ दिन लेखक प्रवासी की पीड़ा झेलता है। अपरिचय का दबाव भी उसे आहत करता है मगर जल्दी ही इस प्रदेश का स्वागत उसे जीत लेता है। अपने व्यक्ति को स्वीकार और रचनाकर की ख्याति उसे सन्तुष्ट करती है। नये आत्मीय सम्बन्ध बनते हैं। नयी चुनौतियों और विपत्तियों से भी टकराना पड़ता है। हर बार मुनष्यता में उसका विश्वास और अडिग होता है। गुजरात के अनुभव लेखक के रचनाकार को अत्यधिक सम्पन्न करते हैं। यहाँ जिन्दगी का एक अछूता आयाम, वह देखता है और समझता है। जीवन के अन्तर्विरोधों एवं सामंजस्यों के बावजूद लेखक यहाँ प्रवासी है और जिन्दगी की जरूरी सहूलियत के लिए गुजरात से भी विदा लेता है। अब उसका गन्तव्य है-दिल्ली।

दिल्ली की गाथा 'उत्तरपथ' की महागाथा है।' यहाँ संघर्ष की मुश्किलें और बढ़ जाती हैं। संवेदनशील मन का बोझ भी घना होता जाता है। प्रतिकूलताएँ पूरी निष्ठुरता से अपनी शक्ति आजमाती हैं। वस्तुतः 'उत्तरपथ' लेखक के व्यक्ति और रचनाकार की अग्नि-परीक्षा है। सम्मान-असम्मान, सुरक्षा-असुरक्षा, स्वीकार-अस्वीकार का द्वन्द्व यहाँ तीखा हुआ है। अनेक बार उसके पाँव उखड़ते हैं किन्तु धीरे-धीरे दिल्ली जैसे महानगर से भी आत्मीयता की एक लय उठती है और थाम लेती है। 'आत्मकथा' के इस हिस्से में लेखक अपनी एक-एक स्मृति को जगह देता है। अपना परिवार, मित्रों का परिवार, साहित्यिक मित्र और शिष्य, सामान्य और असामान्य घटनाएँ सब उसकी दुनिया का अनिवार्य हिस्सा लगता है। दिल्ली का दौर उसके साहित्यकार की ख्याति का भी दौर है। यह समय कहानी और कविता के उन कुख्यात आन्दोलनों का है जब आयातित प्रकार की विचारधाराओं और कला मूल्यों के साथ साहित्य की राजनीति करने वालों ने अपने-अपने कटघरे बनाए। लेखक ने इस प्रकरण को पूरी तटस्थता से देखा है। अपने रचनाकार को कभी भी उसने इन हलचलों के प्रति उत्साहित नहीं पाया। उसका रचना संसार अपनी विश्वसनीय पूंजी के प्रति निश्चित था।

'उत्तरपथ' में लेखक अपनी पूरी पूँजी को अपने पाठक के साथ बाँटना चाहता है। प्रत्येक परिचय-अपरिचय, स्मृति-विस्मृति को दोहराना चाहता है। इस अंश में वर्णन का प्रवाह संयमित है। वस्तुतः यहाँ तक आते-आते लेखक के लिए उसकी जिन्दगी उत्सुकतापूर्वक देखने की चीज नहीं है अपितु सुखपूर्वक जीने की चीज है।

रामदरश मिश्र की आत्मकथा से गुजरना उनके पाठक के लिए अत्यन्त सुखद है। यहाँ उसकी

न केवल अपने प्रिय लेखक से निर्बाध निकटता बनती है अपितु तमाम कथाओं और चरित्रों की विविधता और विलक्षणता का रहस्य भी हाथ लगता है। मानवीय मूल्यों से विचलन की किसी भी परिस्थिति को लेखक क्षमा नहीं कर पाता। स्त्री-जीवन की यातनाओं के प्रति उसमें गहरी पीड़ा है।

'आत्मकथा' आत्मकथाकार की होती है। इस तर्क से लेखक का जो व्यक्तित्व उभरता है वह लोक-जीवन, लोक-संवेदना और लोक-स्मृति से भीतर तक भभकता हुआ है। निष्कपट व्यक्तित्व उसके अनुकूल पड़ते हैं, भीतरी छद्म और कुरूपताओं वाले व्यक्तियों या प्रसंगों में वह माफ नहीं कर पाता।

यह अनायास नहीं है कि गाँव की बेहद अभावग्रस्त जिन्दगी का त्रास उसे कहीं से छोटा या पलायनवादी नहीं बनाता जबकि महानगर की सुविधाओं वाले जीवन की एक भी ठेस उसको बिना कुछ तोड़े नहीं जाती। इस प्रकार की बोझिल स्मृतियों के बावजूद लेखक ने अपने प्रति द्वेष या दूरी रखने वालों का हिसाब चुकाने की नीयत से आत्मकथा नहीं लिखी है। मनुष्य की जिन्दगी के स्वाभाविक प्रवाह के गतिरोधों का विश्वसनीय चित्रण करने के लिए वह इनकी झलक देता है और उतना ही कहता है जितना जरूरी है। आत्मकथा में उभरता लेखक का 'मैं' निपट एकान्त में नहीं है जिसकी नियति अवसन्न उदासी होती है अपितु वह एक उदार, मुक्त और परिवेश से गहरे सम्पृक्त 'मैं' है जिसमें व्यक्ति मन से ज्यादा समूह मन से बोलता है। 'उत्तरपथ' के आखिरी हिस्से में 'व्यक्ति मन' का स्वर प्रधान हुआ अवश्य है किन्तु यह अस्वाभाविक नहीं क्योंकि वहां वह अपनी कथा को समेट रहा है। उसके जीवन की जो रेखाएँ यहाँ साकार होती हैं उसमें पठार की कठोरता है और कछार की सी रसमयता। निजी जीवन की बात कहते हुए वह पाठक से एक लगाव भरा सम्बन्ध कायम करता है। उसकी एकाग्र भागीदारी चाहता है। कुछ रहस्यमय या ओझल नहीं रखता। 'आत्मकथा' की शैली वर्णनात्मक है। लेखक अपनी क्षमता से इसमें कथा का उल्लास बनाए रखता है।

भाव और भाषा की सादगी रामदरश मिश्र की अपनी विशेषता है। अपनी आत्मकथा कहते हुए भी वे अपनी इस क्षमता पर बरकरार हैं। कथ्य के दो अंश उनके कवि को भाते हैं वहाँ वे खूब रमते हैं। परिवेश के चित्रण में जीवन भर देते हैं और जहाँ नहीं रमते वहाँ किसी तरह का संकोच किए बिना आगे बढ़ जाते हैं। जीवन का उल्लास और उदासी, प्रकृति की आत्मीयता और निर्भयता, व्यक्तियों के अन्तर्विरोध और विलक्षणता, परिस्थितियों की अनुकूलता और प्रतिकूलता, संगियों का स्नेह और विरक्ति, साहित्य जगत की अपेक्षा और उपेक्षा, सब कुछ को मिश्र जी ने उसकी विश्वसनीय द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया में देखा है। यह गहरे आश्वस्त करने वाली बात है कि जिन्दगी में सब कुछ पा लेना ही मायने नहीं रखता है। जय-पराजय की किसी प्रकार की भी उम्मीद के बिना भी। इस संघर्ष पर और कुछ मिले या न मिले अपार जनसमूह का प्यार और विश्वास जरूर मिलता है। रामदरश मिश्र की यह आत्मकथा इसी बात पर सही उतरती है।

लेन नं. 8 ए, प्लॉट नं. 59, महामनापुरी विस्तार, वाराणसी

# आधुनिकता के चौराहे पर स्मृतियों की सुगन्ध

## डॉ॰ रामदरश मिश्र के निबंध

डॉ व्यासमणि त्रिपाठी

**यह एक ऐसे रचनाकार की पीड़ा है जो मानवीय मूल्यों और प्रबल नैतिकताओं का पक्षधार है और इसीलिए आधुनिक जीवनशैली में घुस आयी वीभत्सताओं तथा कुरूपताओं से वह दु:खी चिन्तित होता रहता है। तीजि-त्योहार, पूजा-उपासना में घुस आयी प्रवंचना पर तिलमिला उठता है। उसके व्यंग्य का प्रहार तीव्र हो जाता है**

'नया चौराहा' डॉ0 रामदरश मिश्र के प्रतिनिधि ललित निबन्धों का संग्रह है। ललित निबन्ध में साहित्य की कई विधायें आपस में गलबहियाँ करती प्रतीत होती हैं और इसी आधार पर उसे 'रम्य रचना' कहने की वकालत की जाती है। मिश्र जी के ललित निबन्धों में यह विशेषता मौजूद है। उसमें निबंध जैसी वैचारिकता, काव्य जैसी संवेदनशीलता, कहानी जैसी कथन-भंगिमा, नाटक जैसी संवादात्मकता, संस्मरण जैसी स्मृत्यात्मकता, आत्मकथा जैसी वैयक्तिकता और यात्रवृत्तान्त जैसी रोचकता का आ जाना इसलिए भी संभव हुआ है कि मिश्र जी की सक्रियता साहित्य की लगभग सभी विधाओं में रही है और उन सभी में उनका सर्जक मन लोक-जीवन से पोषण प्राप्त करता रहा है। आधुनिक और महानगरीय जीवन की विसंगतियों तथा विडम्बनाओं से दु:खी-चिंतित मिश्र जी के निबंधों में 'लोक' का स्मरण बार-बार हुआ है। वह आधुनिकता और उससे उपजे कृतित्रमता, आपाधापी, भागमभाग, स्वार्थपरता, वैमनस्यता, घृणा, द्वेष से तप्त हृदय के लिए कहीं बरगद की छाँव बनकर आया है तो कहीं सावन की फुहार बनकर और कहीं फागुन की मस्ती तथा होली का उल्लास बनकर। वह अभाव, विपन्नता, दुख-दर्द तथा बदलते परिवेश में ह्रासोन्मुख नैतिकता और विलुप्त होते जीवन मूल्यों को भी लेकर आया है। कहना न होगा कि इन निबंधों में 'लोक' की मौजूदगी इतनी और इस रूप में है कि यह संग्रह अपनी समग्रता में लोक जीवन का आख्यान लगता है। जाहिर है- 'लोक' मिश्र जी के लेखक की संजीवनी है,

रसधारा है तथा जीवन की खुली किताब के रूप में सहयात्री है। वही उनकी रचनात्मकता को सार्थकता भी प्रदान करता है-'निज के माध्यम से लोक की बात करना तो रचना की सार्थकता है।' 'पृ0सं0 144'। एक लंबी पारी खेलने के बावजूद अगर मिश्र जी का रचनाकार सक्रिय है तो इसलिए कि उसके पास लोक की थाती और गाँव-घर की माटी की ताकत है। वह बबूल की भाँति 'अपनी जमीन छोड़कर नहीं जी सकता। मौसम की आवाजों से अलग नहीं हो सकता। वह समूचा जीता है, अंश-अंश नहीं।' 'पृ0सं0 12'। जबकि 'शहर और गाँव की दुविधा में बँटे हुए अनेक नये साहित्यकार एक नकली मुद्रा बनाकर रह जाते हैं और कुछ दिनों के बाद हाँफकर बैठ जाते हैं टूटे-से, थके-से, उखड़े-से।' 'पृ0सं0 20'।

जीवन एक यात्रा है और इस यात्रा में कदम-कदम पर चौराहों का मिलना स्वाभाविक है। इस संग्रह के दो निबंधों-'मेरा आत्म संघर्ष' और 'नया चौराहा' में चौराहों का विशेष उल्लेख है। पहले में जीवन-संघर्ष के समय पंथ की असूझता व्यंजित करने के लिए तो दूसरे में एक सुनसान और उपेक्षित बागखण्ड के आधुनिक चौराहे में परिवर्तन दर्शाने के लिए। यात्रा दोनों में है लेकिन पहले वाले में जाने की बात है तो दूसरे में आने की। पहले में लेखक की जीवन-यात्र की गजब की स्मृत्यात्मकता है। आधुनिक चौराहा बनता जा रहा उपेक्षित बाग-खण्ड कहता है 'जब मैं आधी रात के सूनेपन में अकेला होता हूँ तो न जाने क्यों पिछली कुछ चीजें मुझे आवाज देने लगती हैं।' 'पृ0सं0 95'। उसे अपनी जमीन पर होने वाली रामलीला की याद आती है। शरद के स्वच्छ तथा स्वप्नमय दिनों की विजय का उल्लास तथा अभावों से भरे लोगों के चेहरों पर एक सात्त्विक-सामूहिक ऊर्जा का जगमगाता प्रकाश याद आता है। लेकिन उसकी प्रसन्नता तब अवसाद का रूप ले लेती है जब रामलीला का आयोजन धीरे-धीरे दुर्गापूजा में बदल जाता है और माइक पर फिल्मी धुन में धर्मगीत का बजना और शराब की दुकान से आये हुए लड़कों का उछल-उछल कर नाचना-गाना शुरू होता है। बागखण्ड सोचता है-शायद आधुनिकता का यह भी एक रंग है। उसे सबसे ज्यादा आश्चर्य तो तब होता है जब शराब को लेकर नई पीढ़ी बहस करती है-' यह तंबाकू और गांजा-भाँग तो पहले से चलते रहे हैं, किसी ने इनका विरोध नहीं किया। शराब का ही विरोध क्यों? यह नशा ही नहीं है आधुनिक सभ्य होने की पहचान भी है...अब जब आधुनिकता की रोशनी इस क्षेत्र में आ ही रही है तो शराब को भी आना चाहिए, उसके बिना आधुनिकता की तस्वीर पूरी नहीं होगी।' 'पृ0सं0 94' जाहिर है बाग-खण्ड की पीड़ा मिश्र जी की पीड़ा है। यह एक ऐसे रचनाकार की पीड़ा है जो मानवीय मूल्यों और प्रबल नैतिकताओं का पक्षधार है और इसीलिए आधुनिक जीवनशैली में घुस आयी वीभत्सताओं तथा कुरूपताओं से वह दु:खी चिन्तित होता रहता है। तीजि-त्योहार, पूजा-उपासना में घुस आयी प्रवंचना पर तिलमिला उठता है। उसके व्यंग्य का प्रहार तीव्र हो जाता है-बाग-खण्ड याद करता है- 'लो भइया, कमाई का एक धंधा और शुरू हो

गया। दुधाई पांडे के दोनों बेकार और आवारा बेटे पुजारी बनकर लोगों को प्रसाद और आशीर्वाद बाँट रहे हैं। पैसा कमाने का क्या नया ढंग निकाला है।' 'पृ0सं0 96'।

गाँव की स्मृति इस संग्रह के कई निबंधों में है। किसी में गाँव अभाव, गरीबी, लाचारी और बेचारगी का ताप लेकर उभरा है तो किसी में जीति-त्योहार, होली-फाग का उल्लास लेकर और किसी में गाँव में घुसते शहर से उपजी यांत्रिकता, अनास्था, वैमनस्य और अनैतिकता लेकर लेकिन गाँव मिश्र जी के मानस-पटल से कभी ओझल नहीं हुआ है और होगा भी कैसे? वही तो उनके और उनके लेखन की ठोस जमीन है-'यही मेरी ठोस जमीन है, जो मुझमें, मेरे लेखन में रही है, या मैं और मेरा लेखन जिस पर रहा है।' 'पृ0सं0 66' ऐसा इसलिए कि गाँव में बिताये गये बचपन की दुनिया का बिम्ब लेखक के मानस-पटल पर जितना और जिस रूप में अंकित है उतना और उस रूप में महानगरीय जीवन का नहीं। मिश्र जी लिखते हैं-'जितना सघन जीवन-अनुभव तब बना था उतना सघन बाद में नहीं बन सका। यही वजह है कि मैं सघन अनुभवबिम्बों के लिए गाँव लौट जाता हूँ। वह अपनी ठोस जमीन है।' 'पृ0सं0 70'। इससे रचना प्रक्रिया के सूत्रों को तलाशने में मदद तो मिलती ही है निबन्धों में 'लोक' के समावेश की अनिवार्यता के कारणों का पता भी चलता है। मिश्र जी केवल अनुभव बिम्बों के लिए गाँव नहीं लौटते बल्कि कनाट प्लेस की जगर मगर करती दुकानों, आलीशान इमारतों, आलीशान पार्टियों और आलीशान लोगों को निहारते देखते हुए भी गाँव लौटते हैं। ग्रामीण और नगरीय जीवन की तुलना से उपजी पीड़ा का बोध उनके मन के तार को गाँव लौटाते हैं। ग्रामीण और नगरीय जीवन की तुलना से उपजी पीड़ा का बोध उनके मन के तार को गाँव से जोड़ देता है और चित्र पर चित्र उभरते चले जाते हैं-'पूस-माघ की रात में सूती चादर ओढ़े थर-थराते चित्र, नंगे पाँव भेड़ का कम्बल ओढ़े, रात को शीता से लथपथ खेतों का चक्कर लगाते चित्र, आँखों में दो दिन के उपवास की उदासी भरे, जगह-जगह पैबन्द लगे फटे कपड़े पहने, थरथराती रात के अन्तिम पहर में बर्तन मांजते, गोबर पाथते, खेतों में पानी चलाते चित्र, टाटियों की खुली दरारों से दहाड़कर आती हुई पछुआ हवा में अहककर सो गये भूखे बच्चों की सारी व्यथा लेकर रात को जागत चित्र।' 'पृ0सं0 34'। कदाचित भूमंडलीकरण और बाजारवाद से उपजी विसंगतियों तथा विडम्बनाओं का यह परिणाम है जिसे मिश्र जी ने बदलते गाँवों के चरित्र में देखा है। वैश्वीकरण के युग में बाजार 'घर' में घुस आया है। ऐसे घर की तलाश एक जटिल प्रक्रिया हो गई है क्योंकि मकान, 'लैट, भवन आदि तो मिलते हैं लेकिन संबंधों की गरमाहट और सुख-दुःख बाँटने वाला 'घर' गायब होता जा रहा है। यही चिन्ता मिश्र जी से एक निबंध ही लिखवा लेते है-'मेरा घर कहाँ है।' पढ़ाई-लिखाई और नौकरी-चाकरी के सिलसिले में गाँव का 'घर' क्या छूटा कि कहीं भी होने पर वह उन्हें अपने पास बुलाता रहता है क्योंकि उसमें संबंधों की ऊष्मा भरी थी, हँसियों की ध्वनियाँ गुंजित थीं, आँसुओं की लिपियाँ अंकित थीं, सपनों के चित्र बने थे और यही कारण है कि प्रवास में होने पर मिश्र जी को अपने गाँव के घर बुलाता है- 'वहाँ 'दक्षिण कोरिया'

थे तो अपना देश हमें बुलाता था, अपने देश में दिल्ली का अपना घर बुलाता है और दिल्ली में होते हैं तो अपने गांव का घर बुलाता है और लगता है कि वह इस घर में हरदम व्याप्त है। 'पृ0सं0 122'।

यों तो इधर की रचनाओं में माता-पिता, भाई-बहन को लेकर काफी कुछ लिखा मिलता है लेकिन इस संग्रह के निबंधों में मिश्र जी ने इस संबंधों को जिस यथार्थ के साथ उजागर किया है वह प्रशंसनीय है। पिता का फक्कड़पन और भाइयों की कर्मठता के अलावा उन्होंने 'मेरा घर कहाँ है' शीर्षक निबंध में अपनी माँ का जो चित्र खींचा है वह ने केवल कारूणिक, मार्मिक और हृदय द्रावक है बल्कि एक भारतीय माँ की समस्त विशेषताओं को प्रकट करने वाला भी है-'अभावों की मार से हम सबको बचाती हुई माँ, ऊर्जा और कर्म से तनी हुई माँ, प्यार और करूणा से द्रवित होती हुई माँ, बर्तन मांजती हुई माँ, झाड़ू बहारू करती हुई माँ, दर्द भरे गीत गाती हुई माँ, शादी-ब्याह, पर्वों-त्योहारों पर स्त्रियों की अगुवा बनकर लोकगीत बन जाती हुई माँ, लोक-कथा, वार्ता कहती हुई माँ और सबसे बड़ी बात यह कि अभावों में भी हमें हीनता बोध से उबारती हुई और दुष्ट धनी लोगों के अघातों को तनकर लात मारती हुई माँ।' 'पृ0सं0 120' 'जहाँ मैं खड़ा हूँ' निबंध में मिश्र जी ने गाँव-घर की जीवन चर्चा के बहाने अपने पिता और भाइयों को काफी शिद्दत से याद किया है लेकिन माँ की स्मृति वहाँ भी सर्वाधिक है। पिताजी और माँ की आदतों तथा स्वभावों की तुलना जिस रूप में हुई है उसमें माँ आज के स्त्री-विमर्श की एक किरदार नजर आती है-'पिताजी अकेले और अभावग्रस्त होने के कारण दब्बू बन गये थे, माँ में ऊर्जा थी, वह अभाव में तनी हुई थी, किसी की धौंस बर्दाश्त नहीं कर सकती थी। पिताजी के अकर्मठ, सैलानी और दब्बू स्वभाव से माँ चिढ़ती थी, उन्हें बार-बार कोंचती थी और फिर कहा-सुनी होती थी।' 'पृ0सं0 67'। बड़े भैया को याद करते हुए मिश्र जी ने लिखा है- 'बड़े भैया जब दर्जा सात में थे तो मैं पढ़ाई शुरू कर रहा था। उन्हें न कभी खेलते देखा, न गाजे-बजाते, न नाचते-घूमते। घर से स्कूल, स्कूल से घर, घर से खेत और खेत से घर। एकदम जैसे संन्यासी-ठीक पिताजी के प्रतिकुल। वे ऐसे कैसे हो गये कह नहीं सकता। उनकी कर्मठता माँ की देन कही जा सकती है।' 'पृ0सं0 68'। इस तरह निबंधकार ने माँ को एक बड़ी भूमिका में याद किया है। अगर अज्ञेय की कविता 'नदी के द्वीप' का सहारा लिया जाय तो वह माँ ही है जिसने मिश्रबन्धुओं को आकार दिया है, अन्तरीप, कोण और गोलाइयाँ सब उसी की गढ़ी हुई हैं। मिश्र जी ने निबंधों में स्थान-स्थान पर अपनी पत्नी को भी याद किया है। उन्हें जिस 'घर' की तलाश रही है उसे माँ के बाद उनकी पत्नी ने ही आकार दिया है।

मिश्र जी के समस्त लेखन में नारी को उच्चासन और समादर प्राप्त है। वे उसे स्वावलम्बी और आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर देखना चाहते हैं साथ ही यह भी कि उसके देह पर उसका अधिकार हो और उसकी इच्छा के विरूद्ध कोई उसका उपयोग न कर सके लेकिन स्त्री-विमर्श के नाम पर अति उत्साही लेखिकाओं ने देह की स्वतंत्रता का जो अर्थ-'नारी की देह पर उसका अपना अधिकार है। अपने मन से वह उसका जैसा चाहे उपयोग कर सकती है, उसे जिसे चाहे दे सकती

है, जितनी बार चाहे दे सकती है। उसके इस कार्य पर किसी को कुछ कहने का अधिकार नहीं है।' 'पृ0सं0 178' लगाया है। उसका सर्मथन वे नहीं करते बल्कि उसे पुरूष लंपटता से प्रतिस्पर्द्धा मानते हैं। इतना ही नहीं इसी 'नारी मुक्ति' शीर्षक लेख में जीवन में घटित अपने यौन सन्दर्भों को खूब खुलकर परोसने वाली आत्मकथा लेखिकाओं से आम पाठक की ओर से वे पूछते हैं-''लेखिका जी, आपने व्यक्तिगत रूप से जो कुछ किया है उसका हम क्या करें? नंगेपन को खोलने वाली आपकी बहादुरी हमारे किस काम की? आपने जीवन में यह सब कुछ किया तो किया, यह आपका निजी मामला है, हमें क्यों सुना रही हैं?....अरी लेखिका जी बहुत से काम परदे में ही करने के होते हैं, उन्हें सड़क पर नहीं किया जाता। आपने भी जो यौन क्रियायें की होंगी, परदे में ही की होंगी, सड़क पर नहीं की होंगी। तो जमाने की हवा देखकर चर्चा में आने के लिए अपने किये हुए का पुस्तक के माध्यम से सड़क पर ला रही हैं। इससे आपकी चर्चा तो हो जा रही है और आप यहीं चाहती हैं किन्तु, नारी मुक्ति का कौन सा हित सधा रहा है?''पृ0सं0 179' तार्किकता के धरातल पर उभरा यह व्यंग्य तीखा और पैना होने के साथ ही काफी आक्रामक है।

मिश्र जी साहित्य को मानव-मूल्यों के बोध और सौन्दर्य-चेतना को जिलाये रखने तथा मनुष्य को मनुष्य होने की प्रतीति देनेवाली संवेदनशीलता की रक्षा करने का एक साधन मानते हैं। जब साहित्य इन मुद्दों से भटकने लगता है तब उनका स्वभाव आक्रामक हो जाता है। 'सर्जना' निबंध में भी उनकी आक्रामकता देखी जा सकती है-'आज के कवि-सम्मेलनों, मंचों पर पढ़ी जाने वाली कविताएँ चुटकुलों के रूप में, मिमिकरी के रूप में उपस्थित होकर उपभोक्तावादी लोगों का सस्ता मनोरंजन करती हैं। तमाम घटिया कवि मीडिया पर छाये हुए हैं और कविता के नाम पर वे न जाने क्या-क्या बेच रहे हैं? 'पृ0सं0 188' पठनीयता के संकट से जूझ रही कहानियों के बारे में भी उनकी यह टिप्पणी अपने व्यंग्य-विधान में काफी तिलमिलाहट लिये हुए हैं- 'कुछ अनावश्यक घुमावदार विवरण का शिकार हो रही हैं। उनमें से कथा-रस गायाब हो रहा है। वे ऊबाऊ बनती जा रही हैं। कहानीकारों को न तो मीडिया की चुनौती की चिंता है न अपनी कथा-परम्परा में व्याप्त कथा के मूल चरित्र की।' 'पृ0सं0 191'। यह स्थिति इसलिए है कि आज साहित्यकार बनने की बड़ी जल्दी है। कुछ लोगों को लगता है कि दुकानदारी करते-करते या कुछ सस्ता साहित्य पढ़ते-पढ़ते एकाएक साहित्यकार बना जा सकता है। मिश्र जी उनको समझाते हैं-'साहित्य का रास्ता कठिन रास्ता है, वह बड़ी साधना माँगता है। चारों खाने और चौंसठ खूँटे दुरूस्त रखते हुए साहित्य नहीं साधा जा सकता।'' 'पृ0सं0 87'। कहना न होगा कि मिश्र जी ने काफी खड़ी और लंबी साधना की है। उन्हें अपने लेखन पर भरोसा है, स्वाभिमान पर गर्व है, साहित्य के दुनिया से मिलने वाले छोटे-छोटे सुखों से संतोष है और इसलिए साहित्य के मठाधीशों तथा सत्ता प्रतिष्ठानों की कृपा की आंकाक्षा उन्हें नहीं है। अपनी इस स्थिति का वर्णन उन्होंने 'छोट-छोटे सुख' निबंध में इस प्रकार किया है- 'उसके पास किसी राजनीतिक या साहित्यिक प्रतिष्ठान से प्राप्त वह शक्ति

नहीं है जो साहित्य में लोगों को स्थापित या विस्थापित करती है, जो बड़े-बड़े पुरस्कारों का वारा-न्यारा करती है, जो मनचाहे लोगों की रचनाओं के जगत में प्रक्षिप्त करती है, जो बड़ी-बड़ी पत्रिकाएँ निकालती है, जो रचनाकारों को अन्तर्राष्ट्रीय जगत में प्रक्षिप्त करती है और जो अपने अनचाहे लोगों के प्रति या तो चुप्पी साध लेती है या तरह-तरह से उन्हें लांछित करती है।' 'पृ0सं0 133'। साहित्य-जगत में व्याप्त यह अराजकता तथा पुरस्कार-सम्मान के नाम पर 'अन्धों के हाथ रेवड़ी' की चरितार्थता साहित्य की प्रगति के लिए शुभसंकेत नहीं है।

हिन्दी और भारतीय भाषाओं, जातीय अस्मिता, सांस्कृतिक परम्परा तथा देशीयता को बचाने की छटपटाहट मिश्र जी के दो निबंधों 'कितने बजे हैं' तथा तुम्हारी माँ कहाँ है' में विशेष रूप से द्रष्टव्य है। भाषा केवल अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं है बल्कि अनुभूति, चिंतन तथा देश की धरती की गंध, सांस्कृतिक परम्परा और जन-जीवन की खुरदरी-स्निग्ध चेतना की वाहिका बनकर एक राष्ट्रीय चरित्र निर्मित करने का साधन भी है लेकिन दुर्भाग्य यह है कि हिन्दी और भारतीय भाषाओं की न केवल उपेक्षा की जा रही है बल्कि उनके बोलने वालों को हेय दृष्टि से देखा जा रहा है। लोगों को अपने मूल से काटने के इस षड्यन्त्र में 'अमर बेलों का एकवर्ग' शामिल है जो पेड़ों का खून चूसकर पेड़ों पर ही ठहरा हुआ होकर अपने को पेड़ों से अलग और ऊपर मानता है।' मिश्र जी ने इस वर्ग के कुचक्र को सार्वजनिक करने के लिए अदभुत व्यंग्य क्षमता का प्रदर्शन किया है।

मिश्र जी को गेंदे के फूल से कुछ ज्यादा ही लगाव है तभी तो सिर्फ कविताओं में ही नहीं बल्कि उनके निबंधों में भी वह अपनी खुश्बू बिखेरता हुआ मौजूद रहता है। गेंदा सर्वहारा की सौन्दर्य-चेतना का प्रतीक है इसलिए जब फागुन में गहगहाकर वह फूलता है तो धूप के साथ मिश्र जी का मन भी रंग जाता है और उनका सौन्दर्य-बोध प्रतिबद्ध होकर कह उठता है-'जाड़े और बसंत में और फूल हों तो हों गेंदे का तो होना ही चाहिए। वह मुझे देहाती लगता है।' 'पृ0सं0 83'। मिश्र जी को देहाती दुनिया कितनी प्रिय है? इसे जानने के लिए 'नया चौराहा' के निबंधों को पढ़ना बेहद जरूरी है।

**समीक्ष्य पुस्तक** : नया चौराहा लेखक–रामदरश मिश्र
**प्रकाशक** : अमन प्रकाशन, 104 ए/80 सी राम बाग, कानपुर–208012 (उ0प्र0)
**संस्करण** : प्रथम 2013, पृष्ठ सं0 192, मूल्य रूपये–350/–

जे.जी.–167 टाइप–4, जंगलीघाट, पोर्ट ब्लेयर, अण्डमान– 744103, मोबाईल– 9434286189

आलेख

# जीवन संदर्भों की प्रामाणिक पहचान और जनधर्मी मूल्य दृष्टि से सम्पन्न उपन्यास

## रामदरश मिश्र के उपन्यास

डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ

प्रकाश मनु के साथ बातचीत में रामदरश मिश्र ने अपने उपन्यासों की रचना-प्रक्रिया के संबंध में लिखा है-'आँख के सामने बस यह होता है कि किस जमीन की रचना है- उस जमीन की अपनी गंध, अपना परिवेश, अपनी मुश्किलें...बस कोई भी एक चीज लेकर लिखना शुरू कर देता हूँ।' जाहिर है मिश्र जी के लिए प्रमुख चीज वह जमीन है, जहाँ वे खड़े रहे हैं, जिसे उन्होंने कई तरह से जिया और अनुभव किया है। लेकिन उन्होंने अन्यत्र यह भी संकेत किया है कि केवल स्थान-विशेष सब कुछ नहीं होता, आखिरकार वे संवेदनाएँ और वे मूल्य ही महत्वपूर्ण और विचारणीय होते हैं, जो सर्वदेशीय और टिकाऊ होते हैं। 'आंचलिक उपन्यास' पर लिखते हुए उनका कथन है-

> **रामदरश मिश्र ने अपनी मूल्यदृष्टि को प्रायः 'कंट्रास्ट' में प्रस्तुत किया है। वे एक ओर स्याह अंधेरे की भीषणता बयान करते हैं, दूसरी ओर रोशनी की चमक को अपना समर्थन देते हैं। उन्होंने हर उपन्यास में कुछ चरित्र नास्तिमूल्यों के प्रतीक रूप में रचे हैं और उनकी तुलना में सकारात्मक मूल्यों का कोई 'मॉडल' अवश्य है, जिसे उपन्यासकार का विश्वास और समर्थन प्राप्त है।**

'उपन्यास का अर्थ है, कथा (सूक्ष्म या सघन) के माध्यम से व्यक्त होन वाला जीवन-चित्र जो स्थान विशेष या स्थान सामान्य से संबद्ध होकर सर्वदेशीय मानव-संवेदनाओं और मूल्यों की प्रतिष्ठा करे।...किसी उपन्यास में द्रष्टव्य जीवन अपनी कितनी सच्चाई, सँश्लिष्टता और समग्रता के साथ व्यक्त हुआ है और यह अपनी संवेदना की गहराई तथा मानवीयता के कारण वृहत्तर मानव-सत्य को कहाँ तक स्पर्श करता है।'

अपने पहले उपन्यास 'पानी के प्राचीर' से लेकर अब तक के सबसे नये उपन्यास 'बीस बरस' तक की यात्रा में मिश्र जी जीवन-संदर्भों की प्रामाणिक पहचान के साथ-साथ अपने मूल्य बोध के लिए जाने गये हैं। उनके उपन्यासों में प्रामाणिक स्थितियाँ हैं, जीवन चरित्र हैं, प्रासंगिक विचार हैं,

लेकिन सर्वोपरि मानवीय मूल्यों को गौरवान्वित करने वाली जीवन-दृष्टि है, जिसकी दिप्ति न केवल उनके उपन्यासों बल्कि समग्र साहित्य को सार्थक, पठनीय और विचारणीय बनाती है। यह साधारण बात नहीं है: '...जिस साहित्य के पास स्वस्थ मूल्यों की पूँजी नहीं, साहित्य की मंडी में उसका व्यापार खोटा है।'

मिश्र जी का पहना उपन्यास 'पानी के प्राचीर' सन् 1961 ई0 में प्रकाशित हुआ था। मिश्र जी ने स्वीकार किया है कि इसे लिखने की प्रेरणा उन्हें 'रेणु' कृत 'मैला आँचल' को पढ़कर मिली: 'मुझे लगा, ऐसा तो मैं भी लिख सकता हूँ। अपने गाँव के बारे में एक ऐसा उपन्यास क्यों न लिखूँ, जिसमें जो देखा-सुना हुआ है, अनुभव का हिस्सा बन चुका है-वह भरपूर आए।' इस उपन्यास में 'राप्ती' और 'गोर्रा' नदियों के बीच का ग्रामीण अंचल जीवंत रूप में है: और समग्र रूप में भी। डॉ0 प्रभाकर माचवे ने इस उपन्यास के संदर्भ में लिखा है-'रामदरश चाहते हैं, गांव की अच्छाई-बुराई सबको अपनी पूरी गोलाई के साथ स्वीकार करना। वे सिर्फ एक-पक्षीय होकर गांव में सबकुछ मधुरामधुर नहीं देखना चाहते, न प्रगतिवादी सिद्धांतवादी सिद्धांतग्राहियों की भाँति वहाँ की गंदगी और बुराई और मुफलिसी को ही उभारकर सामने लाना चाहते हैं।' यही वजह है कि 'पानी के प्राचीर' में यथार्थ-बोध और मूल्य-बोध साथ-साथ संश्लिष्ट रूप में हैं। हर बार आने वाली बाढ़ की विभीषिका ग्रामीण जीवन को किस तरह विपन्न, अभावग्रस्त, झगड़ालू, अंधविश्वासी और शोषित बना रही है, इसका जितना प्रामाणिक चित्रण मिश्र जी की ग्रामांचलिक कृतियों -'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ' में मिलता है, हिंदी उपन्यास में अन्यत्र दुर्लभ है। उनके उपन्यासों में आयी बाढ़ केवल प्राकृतिक आपदा नहीं है, अव्यवस्था, अन्याय, अनैतिकता का गंदला प्रवाह भी उसे भयावह बनाता है। 'पानी के प्राचीर' का अंत आजादी से जुड़ी उसकी आशा जनतांत्रिक मूल्यों में विश्वास को जताती है-'गांव के चारों ओर पानी की ये दीवारें जो आप देख रहे हैं, इन्हें गुलामी ने और बलवान बना दिया है- ये हमारी फसलें लूट लेती हैं-आज हमें आजादी मिली है। अब ये पानी की दीवारें टूटेंगी-खेतों में नये सपने खिलेंगे।'

नीरू ने किसानों के तड़पते चेहरे, आँसू से भीगी सूनी आँखे, खून से चिपचिपी पीठें, क्षमायाचना करते हाथ देखे हैं। अत: आजादी न केवल नीरू अपितु किसानों के लिए भी मुक्ति का द्वार बनकर आती है। 'जल टूटता हुआ' में संदर्भ आजादी मिलने के बाद का है। उपन्यास के प्रारम्भ में ही सुग्गन मास्टर के जरिए यह सवाल उठता है कि 'आजादी ने क्या दिया हमें?' हमें अर्थात् विशेष रूप से पिछड़े अंचल के किसानों को। बाद में आजादी के मिलने के बाद गाँव की दशा और बेहाल हो जाने पर चिंता उभरी है। आजादी से जुड़े समता, समानता, न्याय आदि मूल्य संकटग्रस्त दिखायी देते हैं। महीप सिंह जैसे जो लोग कल तक साम्राज्यवादी सत्ता के मजबूत पाये थे, अपने दमनचक्र से जनता को पीसा करते थे, आजादी के बाद वे स्वदेशी बाना धारण कर लेते हैं और आजादी के लिए जूझने वाला आम आदमी जहाँ का तहाँ उपेक्षित और ठगा-सा रह जाता है। मिश्र जी ने जग्गू हरिजन के माध्यम से वास्तविक स्वाधीनता सेनानियों की उपेक्षा का बयान किया है। यह बयान एक देशव्यापी हादसे को खोलने वाला है। जग्गू हरिजन आजादी के संग्राम में तिरंगा उठाए

घूमे थे। लेकिन आजादी मिलने पर उनकी स्थिति गरीबी की रेखा के नीचे का जीवन जीने वाले वर्ग की ही रही। पत्तल उठाना और गोबर की रोटी खाना उनकी विवशता है। उनके अपने दलित समुदाय की आर्थिक-सामाजिक स्थिति पर कोई फर्क नहीं पड़ा है-'सभी बाभन उनके मालिक हैं-ये बाभन चाहे बाहर भीख ही क्यों न माँगते हों, मिलों की दरबानी, चपरासीगीरी और कुलीगीरी ही क्यों न करते हों, रिक्शा ही क्यों नहीं हाँकते हों, चोरी-डकैती ही क्यों न करते हों, लेकिन गाँव में सभी हरिजनों के मालिक हैं।'

डॉ0 विवेकी राय ने 'जल टूटता हुआ' की चर्चा देशव्यापी मोहभंग के संदर्भ में की है। इसमें संदेह नहीं कि इसमें व्यक्त यथार्थ 'स्वतंत्रता' से जुड़ी आशाओं को तार-तार कर देने वाला है। लेकिन इसमें तथ्यचेतना के समानान्तर जो मूल्यचेतना है वह पाठक को हताश-निराश करने के बजाय अवमूल्यों के प्रतिवाद का बल प्रदान करती है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस उपन्यास के पात्रों के संबंध में जो लिखा है, वह गौरतलब है-'ये पात्र टूटते हुए मूल्यों और बढ़ती हुई विसंगतियों को उभारते हैं और परिवर्तन की झंझा के पद संचारों का आभास देते हैं। परंतु ये सारे पद-संचार अलक्षित रह जाते-जैसा कि कई व्यंग्य प्रधान आधुनिक उपन्यासों में रह गये हैं, यदि सतीश, उमाकांत, बदमी और कुंजू जैसे अविचल दृढ़ चरित्रपात्र इसमे न आये होते।'

यहाँ आचार्य द्विवेदी ने जिस अविचल दृढ़ता की चर्चा की है, वह पात्रों की जीवन-मूल्यों में गहरी आस्था और वचन-कर्म की एकता से निर्मित है। इस उपन्यास में लवंगी ने जो सवाल पूछा है, वर्तमान दलितचेतना का एक प्रखर अंग है-'चमार का खून-खून नहीं है, बाभन का खून-खून है। हमारी कोई इज्जत नहीं होती, क्या बाभनों की ही इज्जत होती है? सतीश आदि चरित्र इस उपन्यास में अवमूल्यों से जूझ रहे हैं और लहूलुहान हो रहे हैं, लेकिन सकरात्मक मानवीय मूल्यों में उनका विश्वास बना हुआ है-'सत्य के लिए मूल्य तो देना ही पड़ता है। और अब तक कुछ लोग संगठित होकर मूल्य देने को तैयार नहीं होंगे और दूसरों की देखादेखी असत्य की ओर उन्मुख होते रहेंगे, तब तक गाँव का क्या देश का और पूरे विश्व का उद्धार नहीं होगा?'

वस्तुतः 'जल टूटता हुआ' युगबोध, मूल्यबोध, भाषिक रचाव, कथनपद्धति-सभी दृष्टियों से एक उत्कृष्ट उपन्यास है। इसका प्रकाशन 1969 ई0 में हुआ था, हालांकि यह लिखा पहले ही जा चुका था। इसके आसपास छपे उपन्यासों -'आधागांव', 'रागदरबारी', 'अलग-अलग वैतरणी' आदि की जितनी चर्चा हुई है, उतनी 'जल टूटता हुआ' की नहीं। आलोचकों की बाड़ेबंदी के अलावा मिश्र जी का शिविरबद्धता से अलग रहना भी शायद इसका कारण रहा था। 'रागदरबारी' आदि से वह कहीं से भी उन्नीस नहीं है, बल्कि अपनी सकारात्मक मूल्य-दृष्टि के कारण यह कहीं इक्कीस ही ठहरता है। 'आधागाँव' आदि इन सभी उपन्यासों के अंत में समझदार और संवेदनशील व्यक्ति गाँव की भयानकता से टकराकर भाग खड़े होते हैं। लेकिन 'जल टूटता हुआ' में गांव में ही रहकर गाँव की बेहूदगियों से जूझने का संकल्प आश्वस्त करता है।

मिश्र जी के तीसरे उपन्यास 'बीच का समय' में कथ्य बदला हुआ है। इसमें काम-संबंधों के संदर्भ में नैतिकता का सवाल सिर उठाए खड़ा है। प्राफ़ेसर शील और छात्र रीता के लगाव में कई

जिम्मेदारी का अहसास है, जो गाँव में है। पत्नी अनपढ़ है, सुंदर भी नहीं है, शिक्षित पति की वास्तविक सहचरी बनने में अक्षम है लेकिन पति विवाह-विच्छेद जैसा कोई कदम नहीं उठाता। इसी तरह रीता भी नहीं चाहती कि क्षणिक उबाल में उसके पूज्य की प्रतिमा टूटे और चकनाचूर हो जाये। विवाहेत्तर देहसंबंध मिश्र जी के उपन्यासों में हैं, लेकिन वे अपरिहार्य होने पर ही स्वीकृत हैं। 'जल टूटता हुआ' में कुंजू-बदमी का संबंध इसी प्रकार का है। इस संबंध के माधयम से नयी मूल्यवत्ता को प्रतिष्ठित करने का आग्रह भी सक्रिय है। लेकिन 'बीच का समय' में मिश्र जी ने यौन-वर्जनाओं के उल्लंघन की जरूरत नहीं समझी है। 'बीच का समय' का शील प्रेम को उसके असली रूप में 'जंगली' मानता है लेकिन उपन्यासकार का स्टैंड रीता की मानसिकता के मेल में है। वह शील से पूछती है-'कैसा लगता है सर, जब एकाएक कोई आदर्शमूर्ति टूटकर वहीं गिर जाती है, जहाँ हजारों-लाखों सामान्य मूर्तियां गिरी होती हैं। मिश्र जी के प्राय: सभी उपन्यासों में प्रेम एक उदात्त मूल्य के रूप में है, यह यदि देहभोग में परिणत हुआ भी है तो किसी विसंगति को चुनौती देने के लिए या किसी नयी मूल्यमर्यादा की ओर संकेत करने के लिए।

'सूखता हुआ तालाब' में गाँव के भविष्य की चिंता प्रमुख है: क्या होगा गाँव का, जहाँ जड़ता इतनी कि एक बेवकूफ आदमी भी सोखा-ओझा बनकर ठग ले और जहाँ चालाकी इतनी कि हर आदमी अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को बेच खाये। 'सूखता हुआ तालाब' एक तरह से 'जल टूटता हुआ' का संक्षिप्त संस्करण है। इसमें गाँव को तोड़ने वाली ताकतें और भी मजबूत हुई हैं। इसलिए मूल्यों में विश्वास रखने वाले देवप्रकाश को गाँव से पलायन करना पड़ता है। लेकिन शंकर का सरपंच बनना संकेत है कि बेहूदगियों से जुड़ने के रास्ते बंद नहीं हुए हैं। यथार्थ बोध के स्तर पर देवप्रकाश और चेनइया का गाँव छोड़ना निराशा का व्यंजक है लेकिन मूल्यबोध के स्तर पर अभी बहुत कुछ बचा हुआ है। यह विश्वास मिश्र जी के एक अन्य उपन्यास 'अपने लोग' में भी दिखायी देता है।

'अपने लोग' में एक संवेदनशील बुद्धिजीवी प्रमोद के कोण से अभाव और असमानता के प्रसार को चिंता की दृष्टि से देखा गया है। आजादी के बाद एक खास तबका खूब फला-फूला है। उसकी समृद्धि में जनसाधारण का घनघोर श्रम और दुर्गति का योगदान है।-'जहाँ कहीं वैभव है, वहाँ उसके नीचे एक उजड़ा हुआ जीवन पड़ा है, वैभव की कल्पना गरीबों के जीवन के उजाड़ के बिना हो ही नहीं सकती।' प्रमोद मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित हैं। लेकिन इस उपन्यास-अन्याय को प्रश्रय देने वाली व्यवस्था के प्रति छुटपुट आक्रोश के अतिरिक्त कोई सामूहिक जुझारू अभियान देखने में नहीं आता। हाँ, उमेश और पवन के सहारे भविष्य के परिवर्तन की सम्भावनाएँ इस उपन्यास में जरूर इंगित हुई हैं। जहाँ उपन्यासकार ने दो महत्वपूर्ण संकेत छोड़े हैं। उमेश पागल हो गया है। इस व्यवस्था में हर भावुक किन्तु जुझारू व्यक्ति की नियति अंतत: पागल होना है। अकेला संघर्ष इसी नकारात्मक बिन्दु तक पहुँचता है। यहा पर भी संकेतित है कि मौजूदा दौर में सत्य बोलने का साहस शायद पागलों में ही रह गया है। पवन के माध्यम से रचनाकार ने युवा पीढ़ी के

विद्रोह-भाव और नव-निर्माण शक्ति में अपनी आस्था जतायी है। 'आकाश की छत' में कामरेड जगत् का निम्नवर्ग को अन्याय, शोषण के विरोध में तैयार करना सही कदम है। 'आकाश की छत' में प्रत्यक्ष हिंसा या वर्गशत्रु के वध का निषेध है, क्योंकि रचनाकार जानता है कि एक शोषक के मरने से लड़ाई खत्म नहीं होगी। एक शोषक के मरने पर उसकी जगह दूसरा शोषक उठ खड़ा होगा। 'अपने लोग' का मध्यवर्गीय प्रमोद अपने बेटे को जुझारू शक्तियों के साथ जुड़ते देखकर प्रसन्न होता है। उसे खुशी है कि उसकी भीरूता और निष्क्रियता या प्रायश्चित एवं प्रतिवाद नयी पीढ़ी द्वारा होने जा रहा है-'कभी-कभी तड़प होता है कि काश मैं इस मिट्टी की गरीबी के विरूद्ध सक्रिय संघर्ष कर पाता। मैं सक्रिय संघर्ष नहीं कर सकता। यह मेरी सीमा है, इसलिए वह चाह लिये मैं बराबर तड़पता रहा हूँ। यह चाह तुम्हारे माध्यम से अभिव्यक्ति पा ले तो मुझे परम तृप्ति होगी।'

डॉ0 विश्वनाथ त्रिपाठी ने 'अपने लोग' के संदर्भ में पाया है कि सामाजिक स्थितियों का चित्रण करते समय रामदरश मिश्र की प्रगतिशील दृष्टि उभरकर सामने आती है। इस कृति में रचनाकार ने बी0लाल-मंजरी, किसनलाल-इमरतिया के प्रेम के माध्यम से जातिगत ऊँच-नीच को तोड़ना चाहा है। डॉ0 विश्वनाथ त्रिपाठी के शब्दों में-'यह भी कि लांछित ब्राह्मण और गरीब ईसाई या चमार एक धरातल पर खड़े होकर सामाजिक विषमता को झेल सकते हैं, नये समाज की सृष्टि कर सकते हैं। यह दृष्टि स्वस्थ और गहरी नैतिकता से युक्त है और सच्चे अर्थों में जनवादी और प्रगतिशील है, वह बहुत मूल्यवान है।'

बाद के उपन्यासों में 'रात का सफर', 'बिना दरवाजे का मकान', 'थकी हुई सुबह', मुख्यत: नारी के संघर्ष की कहानी कहते हैं अत: इनमे नारी संबंधी रूढ़ियों और अवमूल्यों का प्रतिकार स्वाभाविक तौर पर काफी जगह घेरता है। 'रात का सफर' में पत्नी के साथ छल और अत्याचार को खारिज किया गया है। इस उपन्यास में ऋतु का अपने डॉक्टर पति को चाँटा मारना पुरूष के सनातन एकाधिकार को चुनौती के साथ-साथ 'सतीत्व', 'पतिव्रत' आदि मूल्यों को नये संदर्भ में देखने-परखने की शुरूआत भी है। इस उपन्यास के एक पात्र का यह कथन सकारात्मक दिशा में संक्रमण का द्योतक और प्रेरक है-प्रेम के शव को ढोने से कोई फायदा नहीं है ऋतु। जीवन अमूल्य होता है। इससे संबंधित जब किसी वस्तु का मूल्य चुक जाये तो उसे छोड़ नहीं देना चाहिए?' नारी के संबंध में 'जिजीविषा' और अपने अस्तित्व-व्यक्तित्व को बचाये रखने की चिंता 'बिना दरवाजे का मकान' आदि कृतियों में भी व्यक्त हुई है। मिश्र जी के उपन्यासों में 'मंजरी' 'अपने लोक', 'बदमी' 'लवंगी' 'जल टूटता हुआ', 'दीपा', 'बना दरवाजे का मकान', 'रूपमती' 'आकाश की छत', 'लक्ष्मी' 'थकी हुई सुबह' आदि अनेक नारी चरित्र अपनी प्रखरता के चलते ध्यान खींचते हैं। इनके माध्यम से मिश्र जी ने यौन-नैतिकता से लेकर नारी मुक्ति तक के सवालों पर विचार किया है। इस विचार-विमर्श में 'मुक्ति', 'सहयोग', 'सतीत्व', 'पतिव्रत', 'श्रद्धा-सम्मान' आदि मूल्य कठिन आजमाइश के दौर में हैं। इनमें से अधिकतर नारियां शक्ति-पुंज हैं और पुरूष प्रधान व्यवस्था द्वारा लादे गये मूल्यों से असहमति जताती हैं।

'बिना दरवाजे का मकान' की दीपा पेट की भूख, संतान की भूख, औरत की अपनी भूख के

साथ-साथ सुरक्षा की भूख से एक साथ लड़ रही है। मल्लाह जाति की ये युवती महानगर में मेहनत-मजूरी करके जी रही है और अपने अपाहिज पति का पालन कर रही है। गांव में रूपन सिंह का हाथ दांतों से काटकर वह जिस 'यौन शुचिता' की रक्षा करती है, वह उसके महानगरीय जीवन में भी अक्षुण्ण रहती है। ऐसा नहीं है कि देह की भूख उसे पीड़ित नहीं करती, लेकिन वह उससे जूझ पाने में सफल होती है। बसंत को वह समर्पित हो जाती है। लेकिन यहाँ 'यौन शुचिता' की रक्षा करने में पहल बसंत करता है। 'स्वाभिमान' और स्वावलंबन'-दीपा के व्यक्तित्व के दो आकर्षक पक्ष हैं और दोनों मिले हुए हैं। इनके बूते पर वह किसी भी असंगति और अन्याय का प्रतिवाद कर पाती है। एक जगह उसका कथन है-'हाथ पांव सलामत होने पर अपने मरद की भी धौंस नहीं सहते बीबी जी। हम लोग खुद अपने बल पर जी सकती हैं। एक मरद बिगड़ैल निकलेगा, उस ससुरे को छोड़कर दूसरा कर लेंगे। लेकिन आप लोग तो वहीं सड़ती रहेंगी, घर के अंदर सारा नरक भोगती रहेंगी और इज्जत का परदा टाँगे रहेंगी।' इस अवतरण में मध्यवर्गीय नारी और मेहनतकश नारी के सोच और कर्म के अंतर को समझा जा सकता है। मेहनतकश नारी को 'पतिव्रत', 'सतीत्व से ज्यादा 'श्रम शक्ति' में विश्वास है। यह कथन कथित नारी-मुक्ति की दिशा नारी के आर्थिक स्वावलंबन में निहित होने का संकेत भी देता है।

'थकी हुई सुबह' की लक्ष्मी कई अवसरों पर नारी के लिए निर्दिष्ट 'अवमूल्यों' के प्रति विद्रोह करती है। समाज में पुरूष को श्रेष्ठ और नारी को अधम मानने वाली विचारधारा को खारिज करते वह कहती है-'बेटी-बेटे का भेदभाव माँ-बाप के प्रति संतान के कर्तव्य को भी बाँट देता है। पता नहीं किसने यह नियम बना दिया है कि बेटी की हर चीज माँ-बाप के लिए अछूत है। तो सुन लीजिए, मैं भी कोई निर्जीव चीज नहीं हूँ कि जहाँ जैसे डाल दी जाऊँ, पड़ी रहूँगी।' लक्ष्मी का विद्रोहभाव उसके कटु अनुभवों के भीतर से उपजा है और वह सोचती रही है-'क्या स्त्रियों को दूसरा ईश्वर पैदा करता है या उसके यहाँ नारी-पुरूष के लिए दो नियम हैं?' पति के पलायन कर जाने के बाद वह अपनी शिक्षा पूरी करती है और स्वावलंबन की शक्ति से संपन्न हो जाती है। हालांकि रामधन मिश्र के प्रति समर्पित होना उसके तेज को कम करता है। वह पुरूषों की लोलुपता को देखते हुए एक ताकतवर पुरूष के साथ खुद को जोड़ लेना 'सुरक्षा' की दृष्टि से ठीक समझती है। यह निर्णय किसी नये 'मूल्य' के उदय का द्योतक नहीं है, बल्कि विकल्पहीनता की विवशता मात्र है।

नारियों की तरह ही 'रामदरश मिश्र' के उपन्यासों में आये दलित चरित्र भी मानवीय और जनतांत्रिक मूल्यों के लिए जूझ रहे हैं। उपन्यासकार ने अपनी उपन्यास-यात्रा के प्रथम चरण से लेकर आज तक दलितों के उत्पीड़न का न केवल खुला विरोध किया है। अपितु समता, समानता, न्याय आदि मूल्यों का जबर्दस्त समर्थन भी किया है। 'जल टूटता हुआ' में हरिजनों या दलितों में अपने प्रति होने वाले अन्याय की चेतना जड़ पकड़ चुकी है वे सामंती शक्तियों से जूझने भी लगे हैं। जगपतिया का खेत महीप सिंह नहीं कटवा पाते क्योंकि वह गरीब, अछूत और पिछड़े वर्ग के वंचितों को एकजुट और संघर्ष-सक्षम बनाने में सक्षम होता है। उपन्यासकार की यह चिंता उपन्यासों

में कई जगह सिर उठाती है कि लोग अकेले-अकेले क्यों प्रतिवाद करते हैं? यह निर्भ्रान्त है कि बिना सामूहिक संघर्ष के कुछ भी हासिल नहीं होगा। 'बिना दरवाजे का मकान' में कहा गया है : 'डी0टी0सी0 हो या और कोई व्यवस्था जब तक उसे एक बड़े समूह से टकराने का भय नहीं होता, कुछ नहीं करती। 'आकाश की छत' में दलित जन कामरेड जगत के नेतृत्व में एकजुट हो रहे हैं। कामरेड जगत अकेली लड़ाई और किसी एक के प्रति केंद्रित लड़ाई के अंतर्विरोधों से अवगत हैं। वे अंतिम विकल्प के तौर पर हिंसा को त्याज्य नहीं मानते-'हमें तो उस व्यवस्था को खत्म करना होगा, जिसमें सेठ पैदा होते रहते हैं, लेकिन यह भी तुम ठीक ही कहते हो कि हमें कभी-कभी सेठ को भी मारना होता है।'

शिक्षा और संगठन ने दलित वर्ग को जो मजबूती दी है, इसका प्रमाण 'बीस बरस' उपन्यास में भी है। इस उपन्यास में हरिजन युवती पढ़-लिखकर अध्यापिका बन गई है और सवर्ण लफंगों से डरती नहीं है-'अब वे दिन गए जब ऊँची जाति के लफंगे हमें इस्तेमाल की चीज समझते रहे हैं।' आर्थिक स्वावलंबन ने दलितों को शक्ति प्रदान की है। 'बीस बरस' में दलितों के टोलों की आर्थिक स्थिति सुधार रही है और सुखदेव जैसे लोग उन्हें समता-समानता का पाठ पढ़ाकर अधिकारों के लिए लड़ना सिखा रहे हैं-

'मैं अपने लोगों को सिखाता हूँ कि तुम किसी से छोटे नहीं हो। तुम लोग अपनी मेहनत की कमाई खाते हो, फिर किसी के आगे झुकने का क्या मतलब? वे भी इंसान हैं, तुम भी इंसान हो। तुम्हें सारे इंसानी हक मिलने चाहिए।' आज हिंदी में दलित-लेखन का अलग संकाय बन गया है। लेकिन हिंदी के आँचलिक उपन्यासों में दलितों की नियति और संघर्ष जितना प्रामाणिक और मार्मिक बयान मिलता है, वह आज भी दुर्लभ है। मिश्र जी के उपन्यासों में आया दलित जीवन उनकी प्रत्यक्षानुभूति और पक्षधरता का संश्लिष्ट रूप लिये हुए हैं। यहां मूल्यबोध कहीं भी आरोपित न होकर कथात्मक रचाव में रचा-बसा हुआ है।

'अपने लोग' में मिश्र जी ने अनेक मुद्दों के साथ शिक्षा जगत् की आपाधापी पर भी गंभीरता से विचार किया है। उनके बाद के उपन्यास 'दूसरा घर' में भी शिक्षा जगत् की कुरूपता एक अहम् मुद्दा है। इस कृति में रामदरश मिश्र का अपना भोगा हुआ सच प्रतिबिंबित है। जिन परिस्थितियों में मिश्र जी गुजरात छोड़ने को विवश हुए थे लगभग उन्हीं स्थितियों में 'दूसरा घर' के डॉ0 गौतम वहां से विदा होते हैं। प्रबंधतंत्र की निरंकुशता, योग्यता पर अयोग्यता का वरीयता, चाटुकारिता का माहौल, शिक्षक राजनीति के संदर्भों के बीच उपन्यासकार ईमानदारी, न्याय, संघर्ष आदि सकारात्मक अवधारणाओं को अपना समर्थन देता है। यह सकारात्मकता जातिवाद, दहेज, सांप्रदायिकता आदि विकृतियों को लेकर भी सामने आती है। जातिवाद का कड़ा विरोध करते हुए कहा गया है-'जातिसूचक पुछल्ले को काट फेंकना चाहिए और यह काम उन्हें शुरू करना चाहिए जिनके पुछल्ले उनके अपमान के सूचक हैं।' इस उपन्यास में समाज को जिन दो वर्गों-सुखी लोगों की कतार, लहूलुहान लोगों की जमात- में बांटा गया है, उनमें लहूलुहान वर्ग के साथ उपन्यासकार अपनी आत्मीयता अनुभव करता है। इस उपन्यास में ही नहीं अपनी समग्र उपन्यास यात्रा के दौरान

उपन्यासकार की प्रतिबद्धता दुखी और लहूलुहान जमात के साथ रही है।

रामदरश मिश्र के उपन्यासों में जो मूल्यवादी चिंतन उभरता है, वह प्रायः शिक्षित मध्यवर्गीय व्यक्तियों के माध्यम से आया है। नीरू, सतीश, प्रमोद, यश, डॉ0 गौतम आदि को जो सकारात्मक मूल्य मिले हैं, वे कहीं से उधार लिए हुए और आरोपित नहीं हैं। वे पात्र अपनी जमीन के कमोवेश जुड़े हुए हैं और इन्होंने जो दृष्टि प्राप्त की है, उसमे पूर्वांचल के कछार के परिवेश का बहुत हाथ है। प्रत्यक्ष अनुभव जब किसी बोध या दृष्टिकोण का निर्माण करते हैं, तब वह ठोस और टिकाऊ होता है। 'अपने लोग' का प्रमोद स्वीकार करता है कि जिस नदी की बाढ़ विभीषिका बनती है, वही टूटन से बचने की ताकत देती है- 'तुम्हीं ने हमारे बचपन को गढ़ा है, तुम्हीं ने हमें सपने दिए हैं और तुम्हीं ने अपने फन फुकार-फुटकारकर हमें अपने गुंजलक में लपेटा है और हमें लड़ने की अपार ताकत दी है, तुम्हारा प्यार और मार सबके लिए बराबर रहा है मां।'

अवमूल्यों से जुड़ने का बल उपन्यासकार को लोकजीवन के विश्वासों से भी मिला है। 'जल टूटता हुआ' का एक प्रसंग यहां दृष्टव्य है: दशहरे के दिन 'नीलकंठ' के दर्शन से शुभ और मंगल होने की लोक-मान्यता है। गाँव के बच्चे नीलकंठ के माध्यम से सीता को अपना संदेश भेजते हैं-'नीलकंठ निलबारी बारी/सीता से कहिअ भेंट अंकवारी/हमार नांव किसन मुरारी।' इसकी व्याख्या उपन्यासकार ने जिस प्रकार की है, उससे उसका मूल्यवादी चिंतन मुखर हुआ है- 'सीता कैद है रावण के यहाँ, आज ही मुक्त होगी। सीता धरती की बेटी है, धरती की बेटी कैद है धरती के शोषक के यहाँ। धरती के बेटे बेचैन हैं, अपनी बहन से मिलने के लिए, उन्हें मालूम है कि राम आज उद्धार करेंगे सीता का। भेंट अंकवार कह देना सीता से ओ भाई नीलकंठ। तुम्हीं कह सकते हो, परिंदे हो और शिव के प्रतिरूप हो।'

इस व्याख्या में कई संकेत छिपे हैं, जो शोषणमुक्ति, समता, समानता आदि मूल्यों के पक्ष में जाते हैं। ''ग्रामवासियों के लिए परंपरागत दशहरा एक तरह से शोषण-मुक्ति का पर्व है। धरती-पुत्री सीता तो शोषक के पंजे से मुक्त हो गयी थी लेकिन धरती-पुत्री की बहुत-सी-धरती आज भी शोषकों के चंगुल में है। स्थिति के इस विपर्यय के बावजूद लोकजीवन में शोषण सरीखे नास्तिमूल्य को खारिज करने तथा समानता-समता स्थापित होने का आशावाद सबल है। वास्तविक स्थिति-शोषण की भयावहता को दिखाते हुए जन-मन में संचित शोषण मुक्ति की आकांक्षा को व्यक्त करना नकारात्मक मूल्यों की ओर प्रयाण करना है।' उपन्यासकार ने इसी प्रसंग में 'नीलकंठ' के दर्शन की महानगरीय स्थिति को भी 'कंट्रास्ट' में रखा है और परंपरा पर व्यावसायिकता के हावी होने की भर्त्सना की है-'किंतु यह नीलकंठ शहरों में बंद कर लिया गया। बहेलिया उसे पिंजड़े में बंद करके दर-दर घूमाता है और धर्मप्राण नगरजन दर्शन करते हैं, अपने पाप-ताप का शमन करते हैं...बहेलिए का नीलकंठ दो पैसे में धर्म बाँटता फिर रहा है।' इस तरह के प्रसंग वृहत्तर मानव सत्य को स्पर्श करने की गवाही देते हैं।

रामदरश मिश्र ने अपनी मूल्यदृष्टि को प्रायः 'कंट्रास्ट' में प्रस्तुत किया है। वे एक ओर स्याह अंधेरे की भीषणता बयान करते हैं, दूसरी ओर रोशनी की चमक को अपना समर्थन देते हैं। उन्होंने

हर उपन्यास में कुछ चरित्र नास्तिमूल्यों के प्रतीक रूप में रचे हैं और उनकी तुलना में सकारात्मक मूल्यों का कोई 'मॉडल' अवश्य है, जिसे उपन्यासकार का विश्वास और समर्थन प्राप्त है। 'दीनदयाल', 'महीप सिंह' 'जल टूटता हुआ', गजेन्द्र सिंह 'पानी के प्राचीर' 'सूर्यकुमार' 'अपने लोग', 'मोतिलाल' 'सूखता हुआ तलाब' 'रूपक सिंह, 'बिना दरवाजे का मकान', 'बुद्धिसागर' 'थकी हुई सुबह', 'पारसभाई' 'दूसरा घर' आदि नास्तिमूल्यों के संवाहक खल चरित्रों के मुकाबले 'सतीश' 'जल टूटता हुआ', 'नीरू' 'पानी के प्राचीर', 'प्रमोद' 'अपने लोग', 'देवप्रकाश' 'सूखता हुआ तालाब', 'दीपा' 'बिना दरवाजे का मकान', 'डॉ0 गौतम' 'दूसरा घर' आदि चरित्रों की उपस्थिति मुनष्यता और उससे जुड़े मूल्यों में उपन्यासकार के विश्वास को पुष्ट करती है।

कई विचारसरणियों ने रामदरश मिश्र के उपन्यासों में व्यक्त मूल्यवादी चिंतन को पुष्ट किया है। डॉ0 विवेकी राय की दृष्टि में श्री मिश्र मूलत: गांधीवादी हैं और समाजवादी विचारों से गहरे प्रभावित हैं। डॉ0 विवेकी राय के अनुसार-'कथाकार रामदरश मिश्र के सृजन-व्यापार में मूलधन गाँधीवाद है और समाजवाद अनेक स्तरीय बढ़ोत्तरी के साथ ब्याज रूप में आया है। यह ब्याज चिंतन राष्ट्रीयता और मानवीयता की अपनी जमीन से जुड़ा होता है, अत: उपन्यासों में अनेक स्थलों पर मुखौटावादी कम्युनिस्टों की निंदा की गई है और जनवादी रंगलाने के लिए कहीं भी चालू राजनीतिक फार्मूलों का प्रयोग नहीं किया गया है।' सत्य, करूणा, अहिंसा आदि को महत्व देने तथा कहीं हृदय परिवर्तन के प्रमाणों से लगता है, मिश्र जी कुछ गाँधीवादी मूल्यों के प्रति आस्थावान् हैं। लेकिन जैसा कि डॉ0 महावीर सिंह चौहान ने लिखा है कि युग की किसी महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक समस्या के समाधान में वे हृदय-परिवर्तन की अवधारणा का उपयोग नहीं करते हैं। इसलिए उन्हें गाँधीवादी नहीं कहा जा सकता है। वर्ग, शोषण, सम्पति का संचय आदि को लेकर उनके विचार निश्चय ही समाजवादी हैं। मिश्र जी ने अपने साक्षात्कारों में स्वंय को 'मार्क्सवादी' कहा है और यह स्पष्ट किया है कि 'मार्क्सवाद' उन पर एक सीमा से अधिक नहीं छाने पाया है। उन्होंने इसे 'नारे' के रूप में न लेकर एक दृष्टि के रूप में लिया है, गरीबी के अपमान और दर्द को समझने और लिखने के निमित लिया है। लेकिन अधिकतर वामपंथी समीक्षक मिश्र जी को बिरादरी-बाहर ही मानते हैं। प्राय: उन्होंने रामदरश मिश्र के उपन्यासों की चर्चा ही नहीं की है। डॉ0 नित्यानंद तिवारी, डॉ0 विश्वनाथ त्रिपाठी जैसे सहृदय समीक्षकों ने अवश्य मिश्र जी के उपन्यासों पर लिखा है। 'अपने लोग' पर लिखते हुए डॉ0 विश्वनाथ त्रिपाठी का विचार कुछ ऐसा है कि कथाचरित्र प्रमोद की तरह रामदरश जी भी अपने को मार्क्सवादी घोषित तो करते हैं, लेकिन राजनीति से कहीं नहीं जुड़ते। डॉ0 विश्वनाथ त्रिपाठी ने यह आपत्ति की है कि उपन्यास में 'व्यक्ति' को राजनीति के चरित्र मानने की गलती की गई है।

वस्तुत: रामदरश के उपन्यासों में आये कथित मार्क्सवादी चरित्र अवसरवादी और कथनी-करनी में फर्क वाले हैं। स्व0 सव्यसाची जैसे मार्क्सवादी लेखक इस बारे दृढ़ थे कि मार्क्सवाद को मानने वाला 'कम्युनिस्ट' एक श्रेष्ठ व्यक्ति होता है-''कम्युनिस्ट होना संसार का सबसे बेहतरीन इंसान होना है क्योंकि दुनिया में कम्युनिस्ट ही ऐसे जीव हैं जो अपने लिये ने जीकर

समाज के लिए जीते हैं...'लेकिन जहाँ कम्युनिस्ट अपने लिए ही जी रहे हों, दूसरों के शोधप्रबंध से 40-50 पृष्ठ उड़ाकर अपना शोधकार्य पूरा कर रहे हों, हर अकादमी, हर सरकारी संस्थान के दोहन में जुटे हुए हों, जातिवाद को खुलेआम बढ़ावा दे रहे हों, क्या तब भी उन्हें दुनिया के बेहतरीन आदमी के तौर पर चित्रित किया जाना चाहिए? मिश्र जी के उपन्यासों में आये रामकुमार, मोतीलाल, जनार्दन आदि तनिक भी अवास्तविक नहीं हैं। यदि उनके मन में कम्युनिस्टों के प्रति कोई पूर्वाग्रह होता तो वे 'कामरेड जगत' 'आकाश की छत' जैसे जुझारू और सकारात्मक चरित्र की सृष्टि नहीं करते। वर्गभेद, शोषण, वर्ग, संघर्ष आदि से संबंधित उनकी जीवनदृष्टि पर मार्क्सवाद का बहुत गहरा असर है। मार्क्सवाद एक ऐसा मानवीय विचारवाद है कि कोई भी प्रबुद्ध जागरूक समकालीन लेखक उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। मिश्र जी की मूल्यदृष्टि भी कई स्तरों पर मार्क्सवाद के चिंतनसूत्रों से प्रेरित, प्रभावित और निर्मित है। उनके उपन्यासों में बार-बार समता और समानता की माँग उभरती है। 'आकाश की छत' के अंत में आया कथन 'और ज्वार को जीना है तो सेठ को खत्म करना होगा' संकेत देता है कि सेठ अर्थात् पूँजीवाद व्यवस्था का खात्मा बहुत जरूरी है। मिश्र जी हर उपन्यास में व्यवस्था-विरोध के तेवर हैं। पूँजीवाद तंत्र से लेकर आज के नवधनाढ्य वर्ग के हित में जुटी लोकतांत्रिक व्यवस्था के अंतर्विरोध, उपन्यासकार के प्रहार की सीमा में हैं। परिवर्तनकामी व्यक्तियों और शक्तियों को अपना खुला समर्थन देते हुए रामदरश मिश्र ने जता दिया है कि वे जनहितकारी और सकारात्मक परिवर्तन में गहरा विश्वास रखते हैं।

झूठ, बेईमानी और प्रपंच की मुखर भर्त्सना, शोषण और अत्याचार का विरोध, वर्ग संघर्ष का आह्वान, दलितजन की पक्षधरता, रूढ़ि, जड़ता, अंधविश्वास से असहमति, परिवर्तनकामी शक्तियों का समर्थन-रामदरश मिश्र के उपन्यासों में व्यक्त मूल्य-चिंतन के प्रमुख पक्ष हैं। इन्होंने उनकी कृतियों को विचारोतेजक, पठनीय, विचारणीय, प्रासंगिक और बहुत कुछ स्थायी महत्व का बनाया है। यह उपन्यासकार का कौशल है कि उसने मूल्यों को संवेदनात्मक धरातल पर प्रस्तुत किया है, इससे कृतियों की संप्रेषणीयता बढ़ी है। हिंदी उपन्यास को कोई पाठक या समीक्षक यदि कुछ पूर्वाग्रहों से युक्त होकर भी विचार करेगा तो मिश्र जी की उपन्यास-यात्रा के तीन पड़ाव-'पानी के प्राचीर', 'जल टूटता हुआ', 'अपने लोग' संपूर्ण हिंदी उपन्यास की स्थायी उपलब्धियों के रूप में दिखायी देंगे। उनके लघु उपन्यासों के महत्व पर आलोचकों का ध्यान कम गया है। 'आकाश की छत', 'बिना दरवाजे का मकान' आदि कृतियों में भी बहुत दिन तक जीवित रहने की शक्ति विद्यमान है, क्योंकि वे न केवल अनुभवों की गहरी जमीन में धंसी हुई अपितु महत्वपूर्ण जनधर्मी मूल्यदृष्टि से भी संपन्न हैं।

✧ ✧ ✧

डी0 131, रमेश विहार, अलीगढ़-202001

# जीवन और प्रति का सहज कोलाज़ रचते गीत

-सत्यप्रिय पाण्डेय

**जीवन की अलग-अलग भाव दशाओं को इन गीतों में ढाला गया है। ये गीत हर्ष के, विषाद के, उमंग और आनन्द की मिली-जुली अनुभूतियों का कोलाज रचते हैं। वे अपने गीतों में वैविध्य ले आते हैं, उनके गीतों में मोनोटोनी नहीं है।**

**पुस्तक का नाम :** मेरे प्रिय गीत
**रचनाकार :** रामदरश मिश्र
**प्रकाशन वर्ष :** 1985
**प्रकाशक :** कन्दर्प प्रकाशन, दरियागंज ,नई दिल्ली

'मेरे प्रिय गीत' रामदरश मिश्र के गीतों का संग्रह है जो 1985 में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत संग्रह में 1946 से लेकर 1983 के बीच लिखे गए गीत संकलित हैं यानी कि एक लम्बे कालखंड को कवि ने इन गीतों में संजोया है। कवि ने इन गीतों को उनके संवेदनात्मक विकास क्रम के अनुसार तीन हिस्सों में विभाजित भी किया है, वह क्रम इस प्रकार है प्रारंभिक गीत, स्वातंत्र्योत्तर गीत और 1965 के बाद के गीत। रामदरश मिश्र हिंदी के ऐसे साहित्यकार हैं जो उपन्यास, कहानी , कविता और सहित कई-कई विधाओं के गम्भीर लेखक के रूप में तो अपनी पहचान रखते ही हैं साथ ही उन्होंनें गीतों की रचना में भी सार्थक हस्तक्षेप किया है। उनके गीतों की संवेदना पर विचार करते हुए हम देखते हैं कि उन्होंने जीवन के मार्मिक भाव बोध को ही अभिव्यक्ति दी है। दरअसल गीतों की जमीन भाव पर ही टिकी होती है। जीवन की आकुल व्याकुल पुकार जब अपनी अभिव्यक्ति के लिए पंख फड़फड़ाती है तो प्रायः वह गीत, कविता के रूप में ही अभिव्यक्त हुआ करती है। जीवन की अलग-अलग भाव दशाओं को इन गीतों में ढाला गया है। ये गीत हर्ष के , विषाद के, उमंग और आनन्द की मिली-जुली अनुभूतियों का कोलाज रचते हैं। वे अपने गीतों में वैविध्य ले आते हैं, उनके गीतों में मोनोटोनी नहीं है। वैसे भी गीत भावों की उन्मुक्त अभिव्यक्ति ही

हुआ करते हैं, यथार्थ की तपिश गीत की जमीन को झुलसा देती है। ज्यों-ज्यों परिस्थितियाँ कठोर होती गयीं, मनुष्यता कगार पर पहुँचती गयी, स्वार्थ एवं भौतिक लिप्साएँ बसतीं गयीं, गीत की उर्वर भूमि बंजर और वीरान होती चली गयी। गीत इस कठोर यथार्थ, आंधी और अंध को अभिव्यक्त नहीं कर सकता। प्रस्तुत संग्रह की भूमिका में ही कवि ने लिखा-'सन 60 के बाद गीत लिखने की गति मंद पड़ गयी। गीत लिखे किन्तु बहुत कम। इसका एक कारण तो यह है कि मैं कथा साहित्य से अधिक जुड़ गया मुझे लगा कि कविता अपने समय के व्यापक और जटिल यथार्थ को व्यक्त तो करती है किन्तु वह कथा साहित्य की तरह गली-कूचों में और रोजमर्रा की जिंदगी की आम हकीकतों तक नहीं पहुँचती और फिर कविता में गीत तो और भी दूर रह जाता है। उसकी प्रति ही नहीं है वहाँ पहुँचने की।' कवि ने गीत विधा के साथ न्याय किया है। उसका मानना है कि जबर्दस्ती गीत लिखते जाना और उस पर तमाम सामाजिक, आर्थिक विसंगतियों का भार डाल देना, उसके साथ अन्याय है। मिश्र जी के गीतों में हृदय की कोमल अनुभूतियाँ प्रति के क्रिया-व्यापारों के साथ लिपटकर अभिव्यक्त हुई हैं, गीत की पंक्ति देखें 'उड़ जाता धूएँ सा मन, खेतों से उड़ता सूनापन'। उनके गीत नितांत मानवीय भावबोध से संपृक्त हैं, वायवीय नहीं हैं ये हवाई नहीं हैं इनका सरोकार मनुष्य के राग से है, संघर्ष से है। कवि लिखता है कि इन गीतों का निर्माण कैसे होता है, कैसे बनते हैं ये गीत, पंक्ति देखें-'सागर की अंतर ज्वाला से जलते हैं ये गीत हमारे, नभ में नहीं, धरा- ज्वाला में पलते हैं ये गीत हमारे इन गीतों में लोक जीवन , लोकराग की गहरी सम्पृक्ति है। गावों की प्रति या कहें कि प्रति के ग्राम्य चित्र बड़ी ही सघनता से उकेरे गए हैं। इन गीतों में पीले कनेर की खुशबू है, सुबह की मंद बयार है, खेतों में खड़ी फसलों की मादक थिरकन है, सिहरन है, ग्रामीण स्त्रियों के सुरों की साड़ है, कजली की राग है, फागुन और चौत की बयार है और सावन की फुहार है। तमाम हताशाओं और निराशाओं से जूझते हुए यथार्थ की कठोर धरती को चीरकर उसमें आह्लाद के बीज बोने की लालसा के गीत हैं। अलग अलग 'तुएँ प्रति को सराबोर कर देतीं हैं, प्रति को तो कम कवि के भावों को अधिक। प्रति का उल्लास भावों में घुल-मिलकर गीत के रूप में अभिव्यद्र हुआ है। दरअसल कवि का आग्रह है कि समूची प्रति एक महागान ही तो है, इसकी हर हलचल में कई-कई गीत फूटते हैं, चाहे वे पावस के मेघ हों, फागुन की हवा हो, नीम की मंजरी हो ये सब प्रति के उल्लास को गीत का स्वर दे रहे होते हैं। प्रति का एक झोंका, एक फुहार, एक थिरकन कवि को सराबोर कर देने के लिए काफी है- 'खींचकर घर से एक बहकी हवा फागुन की, बीच चौरस्ते मुझे भटका गयी है'

और कभी दिन साँप की तरह चुपके से काटकर निकल जाता है, पता ही नहीं चलता बादल संस्त कविता से लेकर हिंदी कविता तक के कवियों के लिए बड़ा ही प्रिय विषय रहा है। ज्यादातर कवियों ने बादलों पर गीत एवं कविताएँ लिखी हैं और अपना बादल राग प्रस्तुत किया है किन्तु मिश्र जी के इन गीतों में बादलों के प्रति बड़ा ही गहरा नेह दिखाई पड़ता है। यह उनका नेह ही है कि उन्होंने कई गीत बादलों पर लिखे हैं। 'यायावर बादल' गीत की पंक्तियाँ देखें, वे लिखते हैं 'पल छिन मेरा संग न छोड़े यायावर बादल, जाने कहाँ-कहाँ से भटके आयें दल के दल

रात-रात भर मुझे पुकारे बैठ सीड़ियों पर / खुले झरोखों से आ-आकर भिंगो जाँय चादर।

कैसे बरजूं ये मृग-छौने / खींच-खींच कर भागें मेरी राहों के आँचल

केदारनाथ अग्रवाल ने धूप के बारे में लिखा था कि 'धूप चमकती है चाँदी की साड़ी पहने, मायके में आई बेटी की तरह मगन है' ठीक इसी तरह का ताजा, टटका और जमीनी उपमान जमीनी इसलिए क्योंकि छायावाद के उपमानों पर यह आरोप लग चुका था कि वे ज्यादातर वायवीय हैं, पार्थिव नहीं हैं, प्रगतिवादी कविता ने खेतों, खलिहानों से उपमान जुटाए। कवि अपने गीतों में ले आता है

'अंग-अंग से घर के ऊष्मा सी फूट रही, गंध, दूध की धारा ज्यों थन से छूट रही

बछड़े सी धूप गाय अभी-अभी व्यायी है, घर मेरे एक किरन और यही नहीं एक जगह वे धूप को कबूतर की तरह फड़फड़ाती हुई कहते हैं 'पूरबी झरोखे से डाकिया फेंक गया एक गोल पाती , घर आँगन में, मन में तभी से कबूतर सी धूप फड़फड़ाती'

'मन डूबा सन्नाटे में 'गीत अन्तर्मन के अंतर्द्वंद्वके उद्घाटन की आकुलता व्याकुलता का गीत है। जीवन में ऐसी परिस्थितियाँ आतीं हैं जब व्यक्ति कहना तो बहुत कुछ चाहता है किन्तु उस आर्तरिक भाव को शब्द नहीं मिल पाते, स्वर नहीं मिल पाता, एक भीतरी कचोट, एक उमण्न घुमण्न मन को व्यथित किए रहती है और यह भीतरी दर्द एकांत पाकर और उद्वेलित होता है, हिलोरें मारता है। गीत की पंक्तियाँ देखें शिखरों पर

कागों का मेला, डङ्गगे पर कम्पित वन बेला

उमड़ उमड़ आता क्यों सोया, दर्द कि मैं हूँ आज अकेला'

जीवन में हर चीज का महत्त्व है। सुख, दु:ख, हर्ष, विषाद, धरती, आकाश, पवन काँटे सब जीवन को सहारा देते हैं, सँभालते हैं उन सबके प्रति कवि बड़ी विनम्रता से अपना आभार प्रकट करते हुए लिखता है 'धरती ने धूल खिला मुझको जग का बंधन डाला, किरणों ने ज्योति, हवा ने स्वर, जल ने आँसू कन कन डाला, तम ने पथ - सर्जन का साहस सूनेपन ने विश्वास भरा, धरती ने आधार अम्बर ने मुझे उड़ान दिया।

'जिन्दगी की राह' गीत जीवन की अविराम और अविरल गति का वर्णन करता है। दरअसल ये गीत कवि के अपने अतीत के कड़वे मीठे अनुभवों का स्मरण कराते हैं। जीवन में कितने उतार-चढ़ाव आए, कितनी आशाएँ निराशाएँ आयीं यह उन्हें वह गीतों में बड़ी ही मार्मिक अनुभूति प्रदान करते हुए लिखता है 'राह पर चलना अगर तो प्रीति क्या है, भीति क्या है,

फूल हो या शूल हो, मैं पाँव धरता जा रहा हूँ और इतना ही नहीं, वह लिखता है 'आ रहा उस पार से ,उस पार तक चलता रहूँगा, विश्व में जब तक निशा तब तक सदा जलता रहूँगा,

विश्व की हर एक लय पर बाँधता गति की अमर ध्वनि ,

दो पगों से नापता युग की अमरता जा रहा हूँ।

'शव साधना' गीत प्रगतिवादी स्वर लिए हुए है, इस देश का दुर्भाग्य रहा है कि यहाँ जिंदा लोगों की उपेक्षा होती है और शवों को पूजा जाता है, समाधियों को पूजा जाता है। तभी तो इस विडम्बना पर पन्त ने 'ताजमहल' कविता लिखी थी। जो जिंदा हैं, जिनमें धड़कन है उसे दबा दिया जाता है और जो जड़ है, निर्जीव है, पत्थर है उस पर माल्यार्पण होता है, शाल-दुशाले ओढाए जाते

हैं। कवि का हृदय विद्रोह कर कह उठता है 'ढक दिया तुमने कग़न से मनुज को, और शव पर शाल डाले जा रहे,

ज्योति का झरना दबाया पत्थरों के आवरण में,
ढक दिया जीवन अनल को राग से कुण्ठित मरण में'

दरअसल यह गीत समूची शव साधना की परंपरा को भी अपने तईं चुनौती देता है जिसमें बलि का विधान होता था, मुर्दे के लिए जिन्दा लोगों की बलि चढ़ाई जाती थी। कवि का गीत जिंदा मनुज के पक्ष में खड़ा है। जीवन मृत्यु से बड़ा है, वह पाषाण से कहीं श्रेष्ठ है और इस जीवन के बदले पाषाण की पूजा क्यों और किसलिए यह सवाल है? मिश्र जी के गीतों में जीवन से हार न मानने का आग्रह दिखाई पड़ता है यह आग्रह क्या जिजीविषा है और कवि की इस जिजीविषा ने विषम से विषमतर परिस्थितियों को चुनौती देते हुए अपना पथ प्रशस्त किया है ठीक उसी तरह जैसे 'अषाढ़ का पहला बादल' चुनौती देता हुआ कहता है कि मेरी राह मत अवरुद्ध करो

मैं न किनारों का बंदी हूँ, दास न पाषाणों का/मैं न किसी का पथ अनुगामी, राही निर्माणों का / छाती तान खड़े शैलों से मेरा स्वर टकराता / झुकता मैं न, लुटा देता रस मिट मिटकर प्राणों का'

कवि ने गीतों में प्रणय के भाव चित्र भी उकेरे हैं। प्रेम से बढकर जीवन की कोई भी अनुभूति नहीं है। प्रेम पार्थिव जीवन को अमरता प्रदान करता है। गीत तो प्रेम की धरती पर ही उपजते हैं, प्रेमी हृदय ही गीतों का रसास्वादन कर सकते हैं। इसी प्रेम की भाव वल्लरी से युक्त पंक्ति देखें–

'हरसिंगार की डाली तूने झकझोर दी / फूल जो कि रात भर झरे वे भी तेरे थे
डाली पर जो रहे भरे वे भी तेरे थे/ प्रीति की प्रतीति हाय क्यों तूने तोड़ दी'

ये उसी प्रेम के, विश्वास के गीत हैं, प्रतीति के गीत हैं और इसी प्रतीति पर ही प्रेम टिका होता है जिसकी वल्लरी बड़ी ही नाजुक होती है जिसे छूते ही भाव कुसुम झर जाते हैं, अश्रु पुष्प ढुलक पड़ते हैं यहाँ उन्हीं अश्रु पुष्पों को सहेजने का आग्रह है क्योंकि ये अभी अधपके थे इन्हें पकने भी न दिया''इन कच्चे फूलों का दर्द महमहा गया।

आँचल तेरा जैसे भोर में नहा गया / प्यास खींच सासों की दिशा– दिशा बोर दी...

रामदरश जी की यह बड़ी भारी विशेषता है की वे सामान्य से को इतनी सहजता के साथ रख देते हैं की वह मार्मिक हो उठता है मसलन एक गीत आता है जिसमें बादलों के चलने का वर्णन हुआ है। महानगर में तो यह दुर्लभ ही है। महानगर के बादल फैक्ट्रिओं के धुएँ से भरे होते हैं किन्तु गाँव में, सेंवार में जहाँ दूर दूर तक खाली मैदान और खेत होते हैं वहाँ इन बादलों के सौन्दर्य को निहारा जा सकता है। बरसात में बादल दौड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं कवि ने लिखा कि बादल कैसे जा रहे हैं, कहाँ–कहाँ से गुजरते हुए जा रहे हैं ?

'बादल चले जा रहे, संध्या को लौटे मेले से जैसे राही हारे, बादल चले जा रहे
भरे भरे पोखर तालों में काँप रही उजली परछाईं / ध्यान विदा दे रहे स्तब्ध क्षण छाँहों को दे गलबाहीं / प्रीति पिला परदेसी चले रहे नैना मतवारे / बादल चले जा रहे

और यही नहीं समूची प्रति, गाँव की पगडंडी और पीले कनेर के गंध से भरी हुई हवा ये सब आकुल व्याकुल पुकार से पूंछती हैं कि हे परदेसी अब कब आओगे? इतनी सुन्दर पंक्तियाँ, इतनी सुन्दर भाव-योजना हिंदी कविता और गीतों में कम दिखाई पड़ती है। रामदरश मिश्र के ये गीत अपनी सहज संवेदना में सहज सम्प्रेष्य हैं और हमें मुग्ध कर देते हैं। ये गीत हमें अपने बचपन की स्मृतिओं, दृश्यों की याद दिला देते हैं। ऋतुओं के आने जाने का आभास गाँव में ही होता था। कब शरद आई, कब फागुन आया? और यह केवल आना ही नहीं था बल्कि ये ऋतुएँ हमारे जीवन पर खासा प्रभाव डालतीं थीं। समूची प्रति उसके उल्लास से उल्लसित होती थी। 'फिर फागुन आ गया ' की पंक्तियाँ देखें।

'फिर फागुन आ गया / डह डह डहका पलाश, परदेसी अँखियन में
बन अँगार लाल लाल छा गया / अमराई से लेकर गाँव तक खेतों का जिया महमहा गया'

मिश्र जी के गीतों में उनका मन प्रति के सौन्दर्य में सराबोर हो उसकी धुन पर नाच उठता है। ये गीत प्रति के आनन्द, उसके उल्लास से भरे पड़े हैं। प्रति इन गीतों का प्राण है। इसमें कवि का अगाध प्रति प्रेम अभिव्यक्त हुआ है। यह प्रति छायावादी प्रति से भिन्न है, इसमें ग्राम्य जीवन के दृश्य, खेत खलिहान, पनघट, नदियाँ, टेशू के फूल, महुआ, गेहूँ की बालियाँ, नीम की फुनगियाँ, पुरवइया, पछुवा हवा, पके धान की तरह धूप का झरना, परदेसी की याद में डूबी आँखों के दृश्य भरे पड़े हैं। ये सब मिलकर इस संग्रह के गीतों को अत्यंत जीवंत एवं मार्मिक बना देते हैं। मार्मिक से ज्यादा सहज बना देते हैं और सहज हो पाना बहुत कठिन है। एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि रामदरश मिश्र सहज गीत रचते हैं और उनके गीत जीवन की सहजता की मांग भी करते हैं, उसे सहज होकर पढ़े जाने की आवश्यकता है। ये गीत कृत्रिमता के विरुद्ध हैं ,छल छंद के विरुद्ध हैं और संग्रह के उतरार्द्ध गीतों में कवि ने यह दिखाया भी है की कैसे आज जीवन की सहजता अवरुद्ध हो रही है, विकास और भौतिकता ने ग्राम्य जीवन को उजाड़ना शुरू कर दिया है। वहाँ जहाँ कभी मिट्टी के घर होते थे, वहाँ अब कंक्रीट का निर्माण हो रहा है। कवि जिस गाँव को छोड़कर शहर आया था, आज वह गाँव नहीं रहा। इस बदले हुए समय ने गाँव को भी बदल कर रख दिया है। पंक्तियाँ देखें-

'कहाँ आ गया हूँ मैं?/यह मेरा गाँव नहीं/कहाँ आ गया हूँ मैं?/टूटे पेड़ों का सन्नाटा
उग रहा हवाओं में काँटा/पक्की दीवारों के नीचे/मिटी सा दब गया हूँ मैं/कहाँ आ गया हूँ मैं'?

अब यहाँ मौसम भी वैसे नहीं आता, जैसे पहले आता था। अब तो 'डालियाँ लगतीं पराई सी परस्पर, अब ठहरता नहीं उन पर मौसमों का स्वर, रात को दो चार उल्लू जमा होते, राग देते छे।

कुल मिलाकर रामदरश मिश्र के गीतों का यह संग्रह अपनी समूची रचनात्मकता में अत्यंत विशिष्ट तो है ही साथ ही, सहज सम्प्रेष्य तथा भाव प्रवण एवं पठनीय भी है।

असिस्टेंट प्रोफेसर ( हिंदी ), श्यामलाल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, पता– 13/258, ग्राउंड फ्लोर, वसुंधरा, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश–201012 :: मोबाइल न.–08750483224

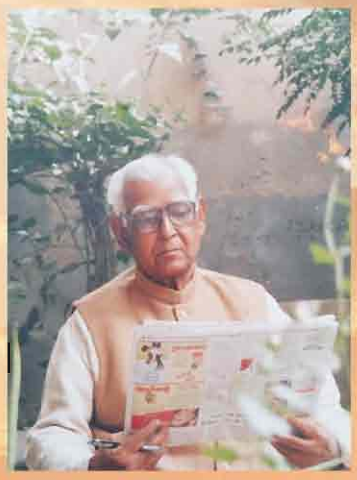

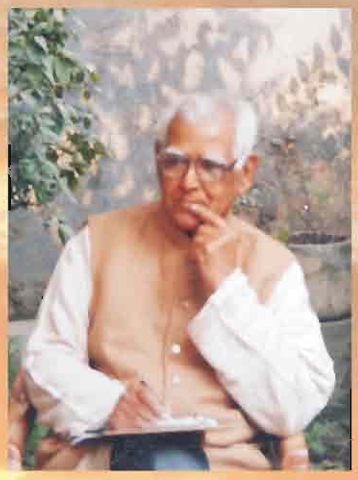

डा. रामदरश मिश्र : अमृत जयंती समारोह व
पुस्तक विमोचन
रामदरश मिश्र : व्यक्ति और अभिव्यक्ति
संपादक : जगन सिंह • स्मिता मिश्र
वाणी प्रकाशन
21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली-2

RNI No. BIHHIN05272
ISSN 2349 - 1906

# श्रद्धांजलि

काव्य शास्त्र के सुप्रसिद्ध विद्वान, पटना विश्वविद्यालय के पूर्व आचार्य एवं पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्व विद्यालय के पूर्व विजिटिंग प्रोफेसर डाक्टर शोभाकांत मिश्र जी का विगत 04 जून को देहावसान हो गया। उनका जन्म 12 जुलाई 1936 में हुआ था। वे संस्कृत और हिन्दी के निष्णात विद्वान थे। वे साहित्य यात्रा के परामर्शी थे। उनके निधन से साहित्य यात्रा परिवार को गहरा आघात पहुँचा है। हम उनके प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। उन्होंने कई महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की थी। कुछ महत्वपूर्ण पुस्तक इस प्रकार हैं-

- काव्य गुणों का शास्त्रीय विवेचन
- भारतीय काव्य चिंतन
- पाश्चात्य काव्य चिन्तन
- अलंकर धारणा: विकास और विश्लेषण
- शब्दार्थ तत्व, बिहार हिंदी ग्रन्थ अकादमी
- The concept of aesthetic pleasure